# कबीर के धार्मिक विश्वास

डा० धर्मपाल मैनी,
एम ए, पी-एच डी,
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय,
चण्डीगढ़।

वितरक
भारतेन्दु भवन,
सैक्टर—१५ ए, चण्डीगढ़

प्रकाशक
डॉ० धर्मपाल मनी
ई १ ५०, सैक्टर १४,
चण्डीगढ़ २

मूल्य ३ ७५

मुद्रक :
आर्य प्रिंटिंग प्रेस
निकलसन रोड अम्बाला छावनी।

# समर्पण

'मेरो बहुरिया का
धमला नाउ रे।'

—धमदास

# दो शब्द

आयुष्मान् डा० धर्मपाल मैनी की पुस्तक 'कबीर के धार्मिक विश्वास' कबीर साहित्य के अध्ययन का एक नवीन प्रयास है। डा० मैनी ने कबीर के धार्मिक विश्वासों को बहुत कुशलता के साथ स्पष्ट किया है और सहानुभूति के साथ मूल्यांकन किया है। कबीर भारतीय धर्म साधना के क्षेत्र में बहुत महत्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं। वे उन मार्गद्रष्टाओं में हैं जिनके बारे में बार बार लिखा जायेगा, फिर भी लिखने को कुछ रह ही जायेगा। मुझे प्रसन्नता है कि डा० मैनी ने नये सिरे से उनके धार्मिक विश्वासों का मूल्यांकन किया है। आशा है धर्म-साधना के जिज्ञासु इस पुस्तक का स्वागत करेंगे परमात्मा से प्रार्थना है कि वे डा० मैनी को दीर्घ आयु और पूर्ण स्वास्थ्य दें, ताकि वे इस क्षेत्र में अधिकाधिक कार्य करते रहें और नये पथ देते रहें।

चण्डीगढ़
६ १०-६४

हजारी प्रसाद द्विवेदी

क्या नहीं उपलब्ध ? बौद्धिक कल्पना से अनुभूति का भी अनुमान लगाने का प्रयत्न किया है। यहां उसकी अनुभूति नहीं, उसकी भी अभिव्यक्ति में उपलब्ध-निम्न साधन स्वरूप धार्मिक विश्वासों को समझने के प्रयत्न में विश्वास के माध्यम से बौद्धिक-सम्यग्ता के अतिरिक्त लेखक का अपना कुछ भी नहीं और उसमें भी बौद्धिक पाठक को बहुत-सी असंगतियों से परिचय होगा, विश्वास-परायण की दृष्टि उस पर नहीं भी पड़ सकती।

विश्व-सरकार' के इस युग में एक ही 'मानव-धर्म' की भी आवश्यकता है। कबीर के माध्यम से इन सन्तों की मान्यताओं में—लगता है, इस 'मानव-धर्म' के तत्त्व ही संगृहीत हुए हैं। और सच पूछा जावे तो 'वसुधैव कुटुम्ब कम्' (सारा विश्व ही एक परिवार है) का उद्घोष करने वाली भारतीय संस्कृति की आत्मा का सच्चा प्रतिनिधित्व करने वाले ये सन्त ही हैं जिन्होंने धर्म, मत, कर्म और जाति के किसी भी वर्ग को स्वीकार किए बिना क्रियात्मक जीवन के माध्यम से अपना सन्देश प्रसरित किया है। आज विश्व को ऐसे ही आचरण प्रधान, उदार, निश्छल और निस्पृह व्यक्तियों की आवश्यकता है। शायद इनके धार्मिक विश्वास ऐसे व्यक्तियों के उद्भूत होने के लिए उपयुक्त वातावरण की सृष्टि करने में कुछ सहायक हो सकें।

भारतीय साहित्य में प्रधान रूप से और हिन्दी-साहित्य में प्रथम और प्रमुख रूप से कबीर के अनुभूति-परक व्यक्तित्व से सहज आत्मीयता अनुभव करने वाले गुरुवर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'कबीर' आज भी मूर्धन्य है और एक

युग तक बना रहेगा। प्रत्यक्ष गुरु और उनकी कृति की प्रेरणा के बावजूद भी लेखक की अशक्त अभिव्यक्ति उसकी सीमित सामर्थ्य और शक्ति की परिचायिका है। फिर भी इस कृति की आवश्यकता क्यों? शायद इसलिए कि यह इस प्रकार के महान साहित्य तक पहुँचने और उसे समझकर अपनाने के लिए उपयुक्त वातावरण का निर्माण कर सके और साधन भी बन सके। साहित्यिक जगत में लेखक का यह एक अन्य विश्वास-परायण पग-चिह्न है।

भाव प्रेस अम्बाला के सहयोग तथा भाषा-विभाग पंजाब के अनुदान को भी लेखक साभार स्वीकार करता है।

—लेखक

क्या नहीं उपलब्ध ? बौद्धिक कल्पना से अनुभूति का भी अनुमान लगाने का प्रयत्न किया है। यहां उसकी अनुभूति नहीं, उसकी भी अभिव्यक्ति में उपलब्ध भिन्न साधन स्वरूप धार्मिक विश्वासों को समझने के प्रयत्न में विश्वास के माध्यम से बौद्धिक-सम्बद्धता के अतिरिक्त लेखक का अपना कुछ भी नहीं और उसमें भी बौद्धिक पाठक का बहुत-सी असंगतियों से परिचय होगा, विश्वास-परायण की दृष्टि उन पर नहीं भी पड़ सकती।

विश्व-सरकार' के इस युग में एक ही 'मानव-धर्म' की भी आवश्यकता है। कबीर के माध्यम से इन सन्तों की मान्यताओं में—लगता है, इस 'मानव-धर्म' के तत्त्व ही संगृहीत हुए हैं। और सच पूछा जावे, तो 'वसुधैव कुटुम्ब कम्' (सारा विश्व ही एक परिवार है) का उद्घोष करने वाली भारतीय संस्कृति की आत्मा का सच्चा प्रतिनिधित्व करने वाले ये सन्त ही हैं जिन्होंने धम, धम, कम और जाति के किसी भी वर्ग को स्वीकार किए बिना क्रियात्मक जीवन के माध्यम से अपना सन्देश प्रसरित किया है। आज विश्व को ऐसे ही आचरण प्रधान उदार, निश्छल और निष्कलुष व्यक्तियों की आवश्यकता है। शायद इनके धार्मिक विश्वास ऐसे व्यक्तियों के उद्भूत होने के लिए उपयुक्त वातावरण की सृष्टि करने में कुछ सहायक हो सकें।

भारतीय साहित्य में प्रधान रूप से और हिन्दी-साहित्य में प्रथम और प्रमुख रूप से कबीर के अनुभूति-परक व्यक्तित्व से सहज आत्मीयता अनुभव करने वाले गुरुवर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'कबीर' आज भी मूर्धन्य है और एक

युग तक बना रहेगा। प्रत्यक्ष गुरु और उनकी कृति की प्रेरणा के बावजूद भी लेखक की अधावत अभिव्यक्ति उसकी सीमित सामर्थ्य और शक्ति की परिचायिका है। फिर भी इस कृति की आवश्यकता क्यों? शायद इसलिए कि यह इस प्रकार के महान साहित्य तक पहुँचने और उसे समझकर अपनाने के लिए उपयुक्त वातावरण का निर्माण कर सके और साधन भी बन सके। साहित्यिक जगत में लेखक का यह एक अन्य विश्वास-परायण पग चिह्न है।

याव प्र स अम्बाला के सहयोग तथा भाषा विभाग, पंजाब के अनुदान को भी लेखक साभार स्वीकार करता है।

—लेखक

सन्तों के धार्मिक विश्वास

## भाग १

# कबीर के धार्मिक विश्वास

निर्गुण—निराकार, निरकार, निरंजन, निरवानी निर्विकार, निर्मम निर्दोष, निरक्षर (सदास्थायी)।

सर्वव्यापकत्व—सर्वान्तर्यामी, सर्वस्वामी, सर्वज्ञानी सर्वरूप सर्वकर्ता सदा स्थायी, सदा एक रूप (समरूप) अत: सर्व श्रेष्ठ, एकमात्र सत्य।

लौकिक गुण—कृपालु रक्षक, भवतारक ज्योति प्रकाशक, अदृश्य परन्तु अनुभूति गम्य।

ब्रह्म की स्थिति—एक देशीय न होकर सर्वव्यापक केवल अन्तर में प्राप्य।

ब्रह्म का स्वरूप—अतीन्द्रिय, गुणातीत अत: निर्गुण, निराकार।

ब्रह्म का सम्बन्ध—आत्मा से, अंश होते हुए भी ऐक्य, जीव से, कबीर से, गुरु से संत एवं भक्त से, माया से सृष्टि से। ७०-९८

४ सृष्टि

निर्माण, रचना प्रक्रिया, अस्थिर, नश्वर।

जीवात्मा—उत्पत्ति, ब्रह्म का अंश, स्थूल से सूक्ष्म का विकास, परवश जीव, क्षणिक देह जीवन सांसारिक सम्बन्ध, योनि भ्रमण, गुरु संत भक्त। ८१-६५

५ कबीर का साध्य

माया से रक्षा, यम से रक्षा, भव-बन्धन का नाश-भव पार आवागमन रहित होना (मोक्ष प्राप्ति), भगवत् प्राप्ति-ब्रह्मज्ञान ब्रह्मरसपान—ब्रह्मानुभूति, साध्य का

—o—

# व्यक्तित्व

परम्परीण मान्यताओं में क्रान्ति उत्पन्न करने वाला व्यक्तित्व महान् होता है और कबीर ने भी अपने युग में यही किया था। उसका व्यक्तित्व ज्ञान, भक्ति और कर्म की सामग्री के उस अनुपात से तैयार हुआ था, जिसे उसके बाद सम्भवत ब्रह्म भी भूल गया। उसका ज्ञान पढ़ाई का नहीं, गुढ़ाई का ज्ञान था अन्त ज्ञान या स्वत उद्भूत ज्ञान था। चन्द्र की भांति सूर्य को भी ज्योतित होने के लिए ज्योति की आवश्यकता नहीं, वह स्वतः अग्नि पिण्ड जो है। कबीर की भक्ति अनन्य और अनवरत थी, जिसका आधार थी उसकी अनुभूति। अनुभूति भी आज के रहस्यवादी कवियों जैसी काल्पनिक नहीं, अपितु अनुभूत अनुभूति। उनका कर्म था क्रियात्मक। निष्काम कर्मण्य जीवन उनका आदर्श नहीं उनका दैनिक व्यावहारिक जीवन था। यह कहना भूल है कि कबीर ने उपदेश दिया था उसने तो केवल सन्देश दिया था, अपनी आत्मा का—अनुभूति की अभिव्यक्ति के माध्यम से। वह ऐसा जुलाहा था जैसा न हुआ है न होगा। उसने जो वस्त्र तैयार किया वह भी उसके व्यक्तित्व की तरह अनश्वर है उसकी वाणियों के सूतों से बुना हुआ यह मानव-धर्म सत्य नित्य एवं कल्याणकारी वह आवरण वस्त्र है जिसे युग युग तक मानव मात्र ओढ़ता रहे, पर सम्भवत अपना न सके। कबीर के वस्त्रों को ओढ़ कर अपनाने वाले भी उसी की तरह अमर हो गये हैं और होंगे

रहेंगे। भारतीय मनीषा के क्षितिज पर रवीन्द्र, गान्धी और अरविंद ऐसी ही तीन विभूतियाँ अभी विलुप्त हुई हैं। जो हो न हिन्दू न मुसलमान बात से मनुष्य न योगी न भोगी—कर्म से कोरी, न राजा न शासक—समाज के नियन्ता न ज्ञानी न भक्त—केवल सन्त और संसार के लिए जो न जन्मे न मरे (क्योंकि किम्वदन्ती के अनुसार जन्म के बदले उन्हें लहरतारा तालाब के पास पाया गया था तथा मृत्यु के समय चादर के के नीचे फूल ही मिले थे, जिन्हें हिन्दू और मुसलमानों ने आधा आधा बाँट लिया था)। ऐतिहासिक भौतिक दृष्टि से तो यह सत्य ही है कि दैवीय आत्माएँ युग की आवश्यकतानुसार अवतरित होती हैं और समय की पुकार का समुचित उत्तर देकर तिरोहित हो जाती हैं। अपने कर्मों व कृतियों के माध्यम से वे अमर होती हैं। जुलाहे का कपड़ा भी उतना ही मजबूत है, जितना विश्व के जुलाहे का। उसने भी सूर्य और चन्द्र की ढरकियों से विश्व-वस्त्र का निर्माण किया था।[1] कोरी ही कोरी की जान सकता है। कबीर की वाणी इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

हिन्दू संस्कार और मुस्लिम प्रभाव में पोषित श्रमजीवी वंश में कबीर उत्पन्न हुए थे यह प्राय सभी विद्वानों को मान्य है। यह बात और है, कि कुछ उन्हें हिन्दू परिवार की देन और मुस्लिम जुलाहा परिवार में पोषित समझते हैं, तथा दूसरे पूर्णत: मुस्लिम परिवार का ही रत्न मानते हैं।

---

[1] गुरु ग्रन्थ पृ ९७६, ८ ३ ।

इसी प्रकार उनके जन्म और मृत्यु के विषय में कई मत हैं और उपयुक्त प्रमाणों के अभाव में विद्वान किसी एक निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके हैं।

सम्वत् १४५५ कबीर की लोक-प्रसिद्ध जन्म तिथि है। कुछ विद्वानों ने रामानन्द की मृत्यु तिथि का अनुमान पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में किया है और उनका शिष्य होने के कारण कबीर की जन्म तिथि को भी वहाँ तक ले जाने का प्रयत्न किया, लेकिन किसी प्रबल प्रमाण के अभाव में उनकी यह धारणा न तो विद्वानों में ही मान्यता प्राप्त कर सकी और न ही साधारण पाठक को औचित्य-पूर्ण प्रतीत हुई। इस लिये कबीर की परम्परागत जन्म तिथि सम्वत् १४५५ ही अधिक मान्य है।

उनकी मृत्यु तिथि के विषय में इससे भी अधिक मत-भेद है, जिसका आधार अन्यान्य अनुमान है। कबीर पंथ अनुयायियों के अनुसार उन्होंने १२० वर्ष की आयु पाई थी और उनकी मृत्यु सम्वत् १५७५ में मगहर में हुई था। इस विश्वास के आधार-निम्न दोहे की प्रामाणिकता के विषय में अभी अनुसन्धान की विशेष आवश्यकता है—

संवत पन्द्रह सौ पचहत्तर, कियो मगहर को गौन।
माघ सुदी एकादशी, रल्यो पौन में पौन॥'

नवाब बिजली खाँ ने कबीर का स्मारक सम्वत १५०७ में बनवाया था इस मत को मानने वालों ने उनका निधन काल यही स्वीकार किया है। और संवत् १५५२ में गुरु नानक से उनकी भेंट को प्रामाणिक मानकर कुछ विद्वानों

कह कर 'भगवद्भक्त' नामक एक नई जाति का निर्माण कर लिया था जिसके कबीर उज्ज्वलतम रत्न थे। लेकिन हिन्दू और मुसलमान कोरी तथा जुलाहा जातियों के चक्कर में पड़ने वाले आधुनिक युग के बौद्धिकों ने उन्हें तर्क वितर्क के चक्कर में फंसा कर एक विशेष जाति के बन्धन में बांधने का प्रयत्न किया है।

तू ब्राह्मन मैं काशी का जुलाहा बूझहु मोर गियाना।

इसी प्रकार कई बार उन्होंने अपने जुलाहा कहने में ही गौरव अनुभव किया, और कहीं कहा उन्होंने अपने को 'कोरी' भी कहा है। मूलतः दोनों ही वसन-जीवी हैं पर आज के बौद्धिक अनुसंधित्सुओं ने यह भेद करने में देर नहीं लगाई, कि ये जुलाहे मुसलमान थे और कोरी हिन्दू। फिर भी कबीर दोनों में से किस वंश में हुए यह झगड़ा बना ही रहा। स्वामी रामानन्द के आशीर्वाद से विधवा ब्राह्मणी की कोख से जन्म लेना तथा मुस्लिम नीरू जुलाहा दम्पति द्वारा उसका पोषित होना—दोनों ही प्रसिद्ध किंवदन्तियां हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है—"कबीरदास जिस जुलाहा जाति में पालित हुए थे वह एकाध पुश्त पहले की योगी जैसी किसी आश्रम भ्रष्ट जाति से मुसलमान हुई थी या अभी होने की राह में थी"[1] यह कह कर उन्होंने योगी या जुगी जाति को कोरी या जुलाहा से अधिक महत्व प्रदान किया है। मूलतः जो बात उन्होंने कही है वह यह है कि हिंदू संस्कार नाथ पन्थियों के माध्यम से इन योगियों में

---

1 कबीर प्रस्तावना, पृष्ठ 11

गये थे और उन संस्कारों के स्थान पर जिन योगियों में नाथ पन्थियों के विश्वास ही प्रबल हो गये थे या हो रहे थे वे यादि हो धीरे धीरे मुस्लिम धर्म ग्रहण कर रहे थे ऐसे ही वंश में कबीर का पालन पोषण हुआ।

कुल मिलाकर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कबीर का वंश ऐसा था जिसमें बहुतायत से हिन्दू संस्कार जीवित थे लेकिन उनके आचारों पर अधिक प्रभाव मुसलमानों का था। उनका क्रियात्मक जीवन वयनजीवियों का था जिस पर इन दोनों से भी अधिक नाथ-पंथी योगियों की छाप अंकित प्रतीत होती है। वस्तुतः कबीर ने अपने को हिन्दू और मुसलमान दोनों से अलग स्वीकार किया है इसी लिए उनकी एक मात्र सर्वमान्य जाति थी—मानव और उनका व्यापक और उदार धर्म था—मानवता बन्धन हीन आडम्बर एवं आवरण हीन।

इसके बावजूद भी कि कबीर ने गुरु को गोविंद से भी उच्चतर-पद प्रदान किया है कुछ विद्वानों ने न जाने यह कैसे स्वीकार कर लिया कि कबीर निगुरे थे। यह बहुत उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। निम्न जाति का होने के कारण जब कबीर सीधे-से रामानन्द का शिष्यत्व न पा सके तो सीढ़ियों पर लेट कर स्नान के लिए जाते हुए स्वामी रामानन्द के चरण-स्पर्श में भी उन्होंने राम-नाम की दीक्षा ले ली। इस किंवदन्ती में कुछ तथ्य हो या न हो लेकिन राम से अनुप्राणित कबीर के जीवन से इसमें से इस सत्य का पता अवश्य मिलता है, कि उन्होंने राम-नाम की दीक्षा अवश्य ली होगी और बहुत सम्भव है कि उनके दीक्षा-गुरु रामानन्द ही रहे

हों। यद्यपि कुछ विद्वानों ने शेख तकी को भी उनका गुरु मानने का प्रयत्न किया है लेकिन यह कल्पना बिल्कुल भी संगत नहीं प्रतीत होती सम्भवतः इसी लिए प्रायः सभी विद्वानों ने इस मत को अग्राह्य घोषित किया और रामानन्द को ही उनका गुरु स्वीकार किया है। यह ठीक है कि सत्संग का उन्होंने कथनी और करनी में विशेष महत्त्व स्वीकार किया है और जीवन भर इसके माध्यम से विचारों का आदान प्रदान करते रहे, लेकिन उनके समग्र जीवन और देन का मूल्यांकन करते हुये हमें यह मानने में संकोच नहीं होना चाहिए कि उनके दीक्षा-गुरु रामानन्द ही हो सकते हैं अन्य कोई नहीं।

'बूडा बंस कबीर का, उपज्या पूत कमाल।
हरि का सुमरिन छांडि के, घर ले आया माल॥

यदि यह पद प्रामाणिक है तो कबीर के पुत्र अवश्य था और यदि पुत्र था तो पत्नी भी अवश्य थी—यह और बात है, कि एक ही थी या दो। जो एक के मरने के बाद आ गई होगी। वस्तुतः जैसे कबीर का जीवन सरल और स्पष्ट नहीं था,उसी प्रकार उनके जीवन-सम्बन्धी इतिवृत्त भी अस्पष्ट ही हैं।

कुछ विद्वानों का कहना है कि लोई उनकी शिष्या मात्र थी। दूसरों का कहना है कि वह उनकी पत्नी थी। तीसरों ने दोनों में बहुत अच्छा समझौता करवा दिया यह कह कर कि पहले या बाद में शिष्या भी रही होगी पर पत्नी अवश्य थी। कहते हैं दूर से आने वाले साधु अतिथि की सूचना पाकर वह कबीर से विशेष प्रभावित हुई थी तभी से

उसके साथ रहने लगी। इस किम्वदन्ती का कुछ रूप भी उनके इस सम्बन्ध में दिखाई देता है। एक जगह उन्होंने कहा है—

'पहिली करूपी कुजाति कुलखनी।
यब को सरूपी सुजाति सुलखनी॥'

इससे उनकी दो स्त्रियाँ होने का अनुमान लगाया गया है, जिसके रूप, गुण का भी वर्णन मिलता है। एक अन्य उद्धरण के आधार पर कुछ विद्वानों ने एक का नाम लोई और दूसरी का धनिया या राम जनिया बताया है। उन्होंने भी कहा है— मेरी बहुरिया का धनिया नाउं। यह लगभग निश्चित प्रतीत होता है कि उनकी एक पत्नी तो भी हो और कमाल नामक उनका एक पुत्र भी हो। कबीर की माँ उससे बहुत नाराज रहती थी क्योंकि वह भौतिक-समृद्धि की प्राप्ति के लिये तो अधिक उद्यम नहीं करता था—यद्यपि वह जीवन-भर ताना-बाना बुनता रहा, लेकिन अधिक सम्भावना यही है कि वह गुजारे भर के लिये कमाता होगा और संग्रह की उसे कोई चिन्ता न होगी, इसी से उसकी माँ को बराबर यह चिंता बनी रही, कि इस 'ताना बाना कछू न सूझै' ओर यह 'हरि हरि रस लपटियो'। माँ ने उसे कई बार समझाया भी 'हमारे कुल कउन रामु कहिओ', लेकिन वह कहाँ मानने वाला था तब उसने खीझ कर कहा—

'जबहि माला लई निपूते तब ते सुखु न भइओ।'

भक्त का लौकिक परिवार सुखी रह भी कैसे सकता था। एक दो स्थानों पर उसने अपने पिता का उल्लेख भी किया है, पर उससे उनके किसी विशेष व्यवहार और गुणों पर

प्रकाश नहीं पड़ता। एक जगह उसने लिखा है—'वापि दिलासा मेरो कीन्हा।' सम्भवतः यह सभी का उल्लेख हो, जब माँ के क्रोधित होने पर कबीर रूठ गया हो। संक्षेपतः कहा जा सकता है, कि कबीर भी सामान्य लौकिक गृहस्थ था। माँ की झिड़कियाँ, बाप का दिलासा पत्नी के उलाहने, और सपूत कमाल सभी उसके जीवन के वरदान थे। इस सामान्य गृहस्थ की महिमा इसी में है, कि इसने इस बन्धन में बंध कर भी निर्लिप्त दृष्टि से अपना मार्ग बनाए रखा—और निवृत्ति-परक प्रवृत्ति का मध्य-मार्ग चुनकर जन-जीवन को उन्नत पारिवारिक जीवन का क्रियात्मक संदेश दिया।

'हम घर सूत तनहिं नित ताना।'

सूत के ताने-बाने में ही वे जीवन के ताने-बाने का सत्य ढूंढते रहे। आजीविका अर्जित करने के लिये उन्होंने वयन-जीवी बने रहना ही उपयुक्त समझा। उनकी वाणियों में प्रयुक्त ताने-बाने के रूपकों को ध्यान से देखने से पता चलता है, कि उन्हें अपने व्यवसाय का बड़ा सूक्ष्म ज्ञान था। विश्व-स्रष्टा को कोरी कह कर उसने उससे अद्भुत तादात्म्य स्थापित किया है। इसी में उनके लौकिक और पारलौकिक जीवन का अद्वितीय समन्वय और संतुलन देखने को मिलता है।

सत्संग को ही वे सर्वोत्तम तीर्थ-यात्रा समझते थे। इसीलिये उस युग के घुमक्कड़ संतों की तरह उपदेश देने या अपने विचारों का प्रचार करने बहुत इधर-उधर नहीं घूमे, क्योंकि ऐसा करने में उन्हें अपने व्यवसाय से हाथ धोना पड़ता, जो उन्हें उपयुक्त न प्रतीत हुआ। इसीलिये उन्होंने बहुत

कम यात्राएं कीं। उनकी समाधियों तथा अन्य अनुमानों के आधार पर कुछ विद्वानों का मत है, कि वे रतनपुर जगन्नाथ पुरी तथा गुजरात भी गये थे। पर यह बहुत सम्भव नहीं प्रतीत होता है। मगहर वे अवश्य गये थे और 'गोमती-तीर' आदि कुछ आस-पास के स्थानों पर भी कभी गये होंगे इसमें सन्देह नहीं।

उनका जीवन बड़े संघर्षों में व्यतीत हुआ था। बालपन से ही दुविधाओं ने उनका साथ दिया था। जैसा कि किंवदन्ती के आधार पर प्रचलित है कि विधवा के घर जन्म और जन्मते ही फेंक जाना, पुन नीरु जुलाहे के पास पालन-पोषण-यह सब सामान्य जीवन का प्रवाह नहीं है। इसी प्रकार बड़े होकर मां की झिड़कियां तथा और बड़े होकर पत्नी के उलाहने यह सब भी उनके लिये सरस-जीवन का गौरव नहीं बन सका। न केवल घर में ही यह हालत थी, बाहर तो और भी बुरी दशा थी। पांडे और पंडित स तो उलझते ही रहते थे, काजी और मुल्ला स भी बैर लेने में उन्होंने कभी देर नहीं लगाई। बस एक अपनी ही धुन के पक्के थे। उन्हें जो गलत लगता था उसे खुले मैदान में भी कहने में कभी न चूके थे, चाहे फिर भी दुश्मन क्यों न हो जावे और उसका कुछ भी दुष्परिणाम उन्हें क्यों न भुगतना पड़े। इस सौदे में वे ज्ञानी-अज्ञानी, छोट बड़ राजा रंक किसी से भी न डरे थ—इसीलिये उन्हें राजा ने क्रोधित हाथी के सामने "भुजा बांध भिलाकरि डारियो लेकिन उस भगवद्-विश्वासी भक्त को न जाने भगवान् ने कैसे बचा लिया। पुन गंगा में डुबाने के लिये जिस जंजीर से बांध कर फेंका गया था, गंगा ने भी कबीर को डुबाने क स्थान पर

उस जंजीर को ही तोड़ कर बुझा दिया और उसे तो उबार दिया—अद्‌भुत है विधि का विधान और भक्त का विश्वास। इस अद्‌भुत विश्वास के सहारे ही युग २ से भगवद्भक्त जीवन बलिदान भी करते आये हैं। सम्भवतः इन विरोधों, पीड़ाओं और यातनाओं के कारण ही वे अधिक उद्दण्ड और प्रचण्ड हो गये थे। जहां भगवान् और उनके सच्चे भक्तों के प्रति उनमें श्रद्धा और नम्रता थी वहां आडम्बरवादियों के प्रति उनमें आक्रोश था। अद्‌भुत था उनका जीवन और व्यक्तित्व, जिसमें विरोधी कार्यों और गुणों का विशिष्ट समाहार उपलब्ध है।

सेन, पीपा, रैदास और धन्ना इनके गुरु-भाई प्रसिद्ध हैं। विद्वानों ने इस दृष्टि से इन सब का समय निर्धारण तथा परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया है। और जो हो या न लेकिन इनकी वाणियों का अध्ययन करने से इनकी विचार-धारा में अद्‌भुत साम्य अवश्य मिलता है। ये सब समकालीन रहे हों या न, हां ये एक परम्परा में अवश्य थे और विचारधारा की दृष्टि से यह परम्परा रामानन्द की परम्परा ही कहला सकती है। कबीर का व्यक्तित्व इन सब से प्रखर था अतः रामानन्द के बाद वे युग-प्रवर्तक बन बैठे।

कबीर ने बड़े व्यापक जन-समुदाय को प्रभावित किया था। उसमें वर्ग, व्यवसाय जाति, अवस्था आदि का विचार त्याग कर सभी कोटि के व्यक्ति थे। इतना होने पर भी नियमित शिष्य-परम्परा चलाने की दृष्टि से उन्होंने किसी विशेष शिष्य को ऐसे अधिकार न दिये थे। उन्होंने अपनी कृतियों में किसी शिष्य का उल्लेख भी नहीं किया। परन्तु

भक्त-परम्परा के आधार पर उनका गोत्र बताने वाले विजली या कबीर-पंथ की छत्तीसगढ़ की शाखा के प्रवर्तक धर्मदास तथा उनकी पंथ-परम्परा को काशी में जमाने वाले सुरतगोपाल का नाम उनकी शिष्य-परम्परा में सादर लिया जाता है। यह और बात है कि जिस मूर्ति-पूजा और बाह्याडम्बरों का विरोध करते २ उन्होंने जीवन बिता दिया, उनके शिष्यों द्वारा प्रवर्तित पंथों की शाखाओं में उन्हीं की मूर्ति की पूजा होने लगी और सब आचारों का रूप भी निर्धारित कर दिया। विश्व के सभी धर्मों के उन्नायकों के विषय में यह सत्य प्रतीत होता है कि ज्यों २ किसी धर्म की जीवन शक्ति क्षीण होती जाती है त्यों २ वह भी आचार प्रधान हो कर समुदाय के रूप में व्यापक तो हो जाता है, परन्तु आन्तरिक दृष्टि से प्रभाव और महत्व हीन भी होता जाता है। कबीर नहीं, उनके अनुयायियों द्वारा प्रवर्तित कबीर-पंथ भी इसका अपवाद नहीं।

सत्य के प्रति आग्रह और असत्य पर आघात भक्त से आत्मीयता और मायावी से अलगाव, कथनी में शक्ति और करनी में विश्वास, निवृत्ति-परक होते हुए भी प्रवृत्ति-परक जीवन, संत होते हुए भी पूर्ण गृहस्थ का संघर्षमय जीवन बिताते हुये भी, स्वतः सरल उपदेश देने वाले होकर भी स्वतः आचरणशील सामान्य होकर भी असामान्य एवं अद्वितीय स्वभाव, कृतित्व एवं व्यक्तित्व रखने वाले युग-द्रष्टा कबीर युग-नायक भी थे। उनके इस व्यक्तित्व को महान् बनाने वाले धार्मिक विश्वासों का ही अध्ययन अगले पृष्ठों में किया गया है।

---

# यतोभ्युदयनि.श्रेयससिद्धि. स धर्म[1]

ऐहिक एवं पारलौकिक सुख शान्ति एवं समृद्धि की ओर ले जाने वाला साधन धर्म है। सृष्टि के विकास क्रम के साथ साथ बौद्धिक मानव मृत्यु के माध्यम से यम के संहारक प्रहार को न सह सका। सदा बने रहने की बलवती इच्छा ने उसमें एक अज्ञात शक्ति के प्रति भय उत्पन्न कर दिया। उस भय से ही मानव में उस शक्ति के प्रति विश्वास श्रद्धा और प्रेम उत्पन्न हुआ। यह भगवत्प्रेम ही धीरे धीरे कुछ बन्धनों के साथ मानव धर्म में परिणत हुआ।

यों तो 'धारणाद्धर्ममित्याहु'[2] धारण करने से ही धर्म बन जाता है। इसीलिए अग्नि का धर्म दाहकता है। जो ही धर्म के इन मूल तत्त्वों से जब मानव सम्बद्ध होता है, तब वे ही मानव-धर्म का रूप ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार मानव-धर्म के दो दो उद्देश्य हैं। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है— ऐहिक एवं पारलौकिक सुख, शांति व समृद्धि पाना। मूलत ऐहिक समृद्धि अपने आप में साध्य नहीं, वह तो केवल साधन रूप में स्वीकार्य हो सकती है। भ्रम से ऐहिक सुखों को ही मानव साध्य समझ बैठता है, वस्तुत पारलौकिक उन्नति एवं अविरम आमन्द में तल्लीनता ही मानव-जीवन का साध्य है। और जो मानव जीवन का साध्य है वही मानव-धर्म का

---

1 वैशेषिक दर्शन १ १।

2 महाभारत पर्व ११ ४६।

उद्देश्य हो सकता है। सम्भवतः इसी कारण धर्म के दो पक्ष हैं, सिद्धान्त पक्ष और व्यवहार (आचार) पक्ष। स्मृतिकार ने 'आचारप्रभवो धर्मः'[3] कह कर आचार का महत्त्व स्थापित किया था। क्योंकि उन सब सिद्धान्तों का ज्ञान व्यर्थ है जिन्हें जीवन में क्रियात्मक रूप नहीं दिया जा सकता। यद्यपि युधिष्ठिर को 'सत्यंवद' का पाठ एक मास भर न याद हो सका था तथापि धर्मराज की उपाधि से उन्हीं को विभूषित किया था। इतना होते हुए भी सत्य के ज्ञान के बिना उसे आचरण में उतारना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। अतः सिद्धान्त पक्ष का ज्ञान होना भी उतना ही आवश्यक है, जितना कि उसके व्यवहार (आचार) पक्ष का। दिव्य आत्माओं की अनुभूति पर आधारित सिद्धान्तों को आधार बना कर सम्यक् व्यवहार (आचार) से जीवन व्यतीत करना ही वह धार्मिक जीवन है, जो निर्लिप्त मानव को ऐहिक सुखों के माध्यम से पारलौकिक सुख और शांति की ओर ले जाता है।

मानव-धर्म महान् है। उसे किसी तर्क की नहीं, अनुभूति की आवश्यकता होती है। उसके आचार में किसी बाह्य बंधन का नहीं, एकमात्र सद्भाव और निर्लिप्तता का ही राज्य होता है। लेकिन मानव पारिवारिक एवं सामूहिक प्राणी है, अतः उसने मानव-धर्म को भी सामाजिकता के कटघरे में बन्द करना प्रारम्भ कर दिया। सामाजिकता के संकीर्ण घेरे में मानव-धर्म पनप नहीं सकता, अतः उपयुक्त ज्ञान के अभाव में उसमें भी विकार आना अवश्यम्भावी है। इन विकारों के ही परिणाम स्वरूप श्री कृष्ण को कहना पड़ा था—

3 मनुस्मृति, १, १ १।

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥"[4]

धर्म के नाश और अधर्म की वृद्धि होने पर ही दिव्य आत्माओं का संसार में अवतरित होना पड़ता है। ये दिव्य आत्माएं और कुछ नहीं वे ही लौकिक महापुरुष हैं जिन्होंने अन्तःकरण में स्थित ब्रह्म को उद्‌भासित कर लिया है। परिस्थितियों का ऐसा करने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संयोग एवं सहयोग होता है। सम्भवतः इसीलिये सकले ने तो यहां तक कहा है कि विश्व की महान विभूतियां काल प्रसूत होती हैं। जो बहुत सत्य है। रावण की विकृत प्रतिभा से उत्पन्न दुराचारों ने प्रवासी न्दारथ-पुत्र को राम बना दिया था। कंस के अत्याचारों तथा दुर्योधन के सूच्यग्र नैव दास्यामि (सुई की नोक के बराबर भी भूमि न दूंगा) वाले हठ ने ब्रज की गोपियों के कन्हैया' को भगवान् श्री कृष्ण बनने पर विवश कर दिया था। 'आलम्बवस्तुविवरण' ब्राह्मणों के धार्मिक अनाचारों ने बुद्ध की प्रसुप्त सहज प्रतिभा का उद्‌बुद्ध कर उसे भगवान बुद्ध बना दिया था। इसी परम्परा में भारतीय मनीषा के क्षितिज पर अभारतीय मानव मानव नहीं दानवों की राजनैतिक एवं सामाजिक ही नहीं अपितु धार्मिक दास की नृशंसता तथा भारतीय धर्म नहीं, उसके आचार के आडम्बर ने कबीर को कबीर (महान्) बनने के लिए पुकारा था। इसी लिये द्विवेदी जी को लिखना पड़ा—'कबीर आविर्भूत हुए थे।[5] वे आविर्भूत हुये हों या न। लेकिन यह

---

4. गीता अध्याय ४, ७।

5. कबीर: आचार्य हजारीप्रसाद द्वि० पृ० १००।

नितांत सत्य है कि उन्होंने ब्रह्म को अवश्य ही अपने अन्तःकरण में 'आविर्भूत कर लिया था। इसी लिये सत्य का कवच पहन कर, कटु सत्यों का प्रहार करते हुए उन्होंने समाज के सब अधार्मिक ठकेदारों को झाड़ कर, फटकार कर और समझाकर अन्त में सहलाया भी, ताकि वे उचित धर्म मार्ग पर अग्रसर हो सकें।

कबीर अपनी आत्मा के सच्चे पुजारी थे और वे जानते थे कि सत्य दो नहीं हो सकते। इसीलिए उन्होंने किसी सत्य का कभी विरोध नहीं किया और जो सत्य नहीं वह धर्म भी नहीं हो सकता, अतः उन्होंने किसी धर्म का भी विरोध नहीं किया, उन्होंने तो केवल सत्य तथा धर्म के आवरण के नीचे जमी हुई मैल को बाहर निकाल फेंकने का प्रयत्न किया, अतः कबीर के धर्म की सबसे पहली और सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उन्होंने नाम के आडम्बर पूर्ण 'कबीर-पंथ' का सृजन न करके सर्वजनीन चिरंतन मानव-धर्म की स्थापना की थी। आत्मा के सच्चे सेवक होने के कारण कबीर मन्त्रद्रष्टा ऋषियों से भिन्न स्तर पर न थे और दिव्य आत्माओं की अनुभूतियां प्रायः एक-सी होती हैं, क्योंकि अनुभूति निश्छल और पवित्र अन्तःकरण की ध्वनि होती है। कबीर का काव्य इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

कबीर का 'कबीरत्व' इसी में है, कि उसने केवल 'अनभो सांच' को ही अभिव्यक्ति दी। इसलिए उनके कथन में सत्य का बल, वाणी का ओज, भाषा की सरलता और सादगी, जिन्दगी की सच्चाई, वास्तविक आचार की रूप रेखा, हृदय

का पीवन, माव का उच्छ्वसन, ज्ञान का प्रकाश, बौद्धिकता का विकास मानव-मन का स्वभाव समाज का कल्याण है और इससे भी बढ़ कर है जीवन का अमर सन्देश—एकमात्र सत्य से तादात्म्य। जिसने उसे पहिचाना वह अमर हो गया जिसने उसे माना, वह ज्ञानी हो गया जिसने उसके रहस्य को समझा वह समझदार हो गया जिसने उसे पढ़ा, वह पण्डित हो गया जिसने उसे सुना वह निर्मल हो गया, और जिसने उसे अपनाया, वह तो स्वयं कबीर (महान्) ही हो गया।

कबीर जन्म जाति और कर्म से सामान्य मानव थे इसी लिये उनके माध्यम से मानव धर्म का प्रसार हुआ। वे दार्शनिक न थे, लेकिन उन्होंने सम्पूर्ण दर्शनों के तत्त्वों के दर्शन कर लिये थे, वे तार्किक भी न थे परन्तु वे उनके प्रत्येक तर्क से परिचित थे वे वेद पाठी भी न थे, पर वेदों का सार संसार को पढ़ाने की क्षमता रखते थे वे पुस्तकी विद्या के ज्ञाता न थे, पर अथाह ज्ञान के भण्डार थे वे सामाजिक दृष्टि से बाह्य आचारवान न थे, पर उनका व्यक्ति आचार-निष्ठ था, अतः वे सामान्य होकर भी असामान्य थे और किसी के कुछ भी न होकर सभी के सब कुछ थे।

उनके 'कर्म और धर्म में एकता थी कथनी और करनी में साम्य था 'कहनी और रहनी में समरूपता थी। उनका धर्म 'मकब धर्म' था, जिसका उधार उनको मान्य नहीं, जिसे सीमित रखना उन्हें सह्य नहीं और जिसका उपदेश उन्हें ग्राह्य नहीं, क्योंकि वे तो केवल सन्देश देने की साधना लेकर आये थे—वह भी कथनी नहीं, करनी के माध्यम

से। इसीलिए कबीर का धर्म योग में अटका नहीं, वहां से सहज बन कर निकल आया, ज्ञान में उलझा नहीं, वहां से 'विवेक' बन कर थमा आया और भक्ति में रमा नहीं, वहां से अनुभूति बन कर वह निखरा। अतः वह विभिन्न मतों से विचार करके भी स्वतः किसी 'वाद' के चक्कर में नहीं फंसे अन्यान्य सम्प्रदायों से झगड़ कर भी किसी झगड़े में नहीं उलझे इसी लिए किसी विशिष्ट समुदाय के धर्म प्रणेता न बन मानव धर्म के निर्माता बने।

कबीर दार्शनिक न थे, अतः उन्हें किसी दर्शन विशेष के बंधन में बांधना उनके साथ और अपने साथ अन्याय होगा। क्योंकि अनुभूति तर्क की सीमाओं से परे की वस्तु है और दर्शन का तो आधार ही तर्क है। इसी कारण अद्वैतवाद की ओर रुझान रखने वाले बौद्धिकों ने उनकी अनुभूतियों को अपने विचारों के अनुकूल मानकर उन्हें विशिष्ट सम्प्रदाय के समर्थक बताया है। न केवल उनकी अनुभूति, अपितु उन्हीं की अभिव्यक्ति को विषयानुक्रम सम्बद्ध कर सरल व स्पष्ट गद्य में प्रस्तुत करने का हमारा प्रयत्न है। यहां उनके धार्मिक विश्वासों का अध्ययन ब्रह्म, सृष्टि जीव उनका साध्य तथा अवरोधक शक्तियों के माध्यम से हुआ है।

---

-३-

## ब्रह्म माहात्म्य

कबीर सात समु'दहि मसु करउ,
कलम करउ बनराइ।
वसुधा कागदु जउ करउ
हरि जसु लिखनु न जाइ।[6]

ब्रह्म का माहात्म्य तो इतने से ही स्पष्ट है कि उसका गुणांकित करने के लिए अलमस्त कबीर को भी 'वसुधा, कागदु, तथा सात समु'दहि मसु' की सामग्री अत्यल्प ही प्रतीत हुई, फिर वह हरिगुण कैसे लिख सकता था। कबीर तो जीव ही था 'सनक' 'सनन्दन' आदि भी उसका गुणगान करते हैं[7] लेकिन वे अनन्त के अनन्त माहात्म्य का अन्त कहाँ। न केवल सुरपति, नरपति उसकी महिमा को कहने में असमर्थ हैं अपितु "चार वेद और सिम्रित पुराना" इसके महत्व का बखान करने में असमर्थ हैं। नारद और शारदा उसकी सेवा में उपस्थित हैं और ब्रह्मपत्नी कमला तो दासी ही बनी बैठी है। लेकिन उसका गौरव वाणी की सीमाओं से भी परे है।[8] "ठाढा ब्रह्मा निगम बीचारै" लेकिन "अलखु न लखिया

6 'अंग' श्लोक ८१

7 पृष्ठ ११६ पद ७४

8 पृ० ४०८ १३

आइ।" औरों की तो बात ही दूर रही लेकिन स्वयं ब्रह्मा भी ब्रह्म का न जान सका।[9] अगणित चन्द्र तथा सूर्य जहां दीपक का कार्य करते हुए प्रकाश करते है, असंख्य धर्मराज जिसके प्रहरी हैं और देवताओं की तो बात ही क्या—उनके भी राजा इन्द्रकोटि जाके सेवा करहिं'[10] ऐसे ब्रह्म के माहात्म्य का क्या कभी बखान हो सकता है —मानव कल्पना से भी दूर की बात है।

न केवल अरूप उसके रूप की कल्पना ही महान है अपितु उसकी कर्तुम्-अकर्तुम् का ज्ञान भी मानव-मन की सीमाओं में आबद्ध नहीं हो सकता। वह जब चाहे हँसते को रुला देता है और रोते को हँसा देता है। 'मसि ते मरु करि और मरु से रूप तथा पुनः मेरु पर्वत तक बना डालता है। क्षण भर में भिखारी को राजा और राजा से भिखारी बना देता है। संक्षेप में मानव मन की सभी अकल्प्य कल्पनाओं को भी वह क्षण भर में साकार व सार्थक कर देता है। वाणी की अदम्य अभिव्यक्ति से भी जब वे सन्तुष्ट न हो सके, तब उसे 'गूंगे का गुड़' कह कर उन्होंने सन्तोष किया। गुरु नानक ने "मैं मूरख कहणु न जाई' कह कर अपनी विनम्रता का परिचय दिया है। भक्त शिरोमणि तुलसी दास ने गुण गान करते हुए थक कर कहा—'अनन्त हरि की कथाएं भी अनन्त हैं।' और यह कहकर वे स्वांतः सुख में लीन हो

9 पृ० ११२०, ५
10 पृ० १२६६, १
11 पृ० ७११, १, १

गये। इतना होते हुए भी लेखक का यह लघु प्रयत्न 'तितीर्षु दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्' (पोत से भी दुस्तर महान सागर को तैरने का) दुस्साहसमात्र समझा जा सकता है जिसका दोष लेखक को नहीं महान् अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के अध्ययन और उससे प्राप्त अदम्य प्रेरणा तथा अनवरत उत्साह को ही दिया जा सकता है।

## आविर्भाव

कबीर का ब्रह्म निर्विवाद रूप से अजन्मा, अनादि तथा अयोनि है लेकिन भक्त की भक्ति में इतनी शक्ति है कि अपनी अनुभूति से वह उसे अन्तर में उद्भासित कर लेता है। इसी लिये कहा है, 'पूति पिता इक जाइया'[12] पुत्र (आत्मा) पिता (परमात्मा) को आविर्भूत कर लेती है और 'बिन महि साईं परगटै'[13]।

## ब्रह्म के गुण

बास्कलि के 'आत्मा क्या है?' यह पूछने पर बाध्व ने आत्मा के दो बार मूक रह कर उसे अपना सन्देश दे दिया था—लेकिन उसके न समझने पर तीसरी बार बाध्व को कहना ही पड़ा था कि 'आत्मा मौन है'[14]। सम्भवतः इसी लिए 'आत्मानं विद्धि' (अपने आप को जानो) का भारतीय दर्शन में मानव जीवन के साध्य के रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान बना हुआ है। आत्मा तो शान्त है लेकिन परमात्मा क्या है?

---

12 पृ० ११५, १

13 श्लोक १८६

14 दास गुप्त—हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, भाग १, पृ ४१।

'स एप नेति'[15] 'वह यह भी नहीं' 'वह भी नहीं' इत्यादि। 'मन्त्र द्रष्टार' ऋषियों ने इस नेति पद्धति से ही उसके स्वरूप को समझने का प्रयत्न किया है। कबीर की अनुभूति भी उनसे बहुत भिन्न नहीं है। अत उसी पद्धति का आश्रय लेकर हम कबीर के ब्रह्म को समझने का प्रयत्न करेंगे। कबीर का ब्रह्म अनादि है और अनादि होने के साथ साथ वह अजन्मा भी है क्योंकि आव न आई मरै न जीव'[16]। और जो विश्व में नहीं आता वह अयोनि भी है, इसीलिये वह अनायास ही अमर भी है। 'अगम अगोचर रहै निरन्तरि'[17] वह न केवल अगम' और अगोचर है अपितु अलंघ्य व अतर भी है, उस लांघ कर आगे बढ़ने की बात तो दूर रही उस तक पहुँचना भी असम्भव नहीं, तो अति कठिन अवश्य है। अन्तर्हित होने के कारण उसका पार भी नहीं पाया जा सकता, 'ना अन्तु न पारु'।[18] और जिसका अन्त नहीं उसकी गहराई का भी क्या ज्ञान 'अथा अथाह थाह नहीं पाया'[19] जीव तो क्या शिव मुकदेव भी उस ब्रह्म की थाह न पा सके। उसके गुणों की थाह पाने में प्रयत्नशील कबीर उसे अनन्त कह कर सन्तोष करते हैं। क्योंकि 'वेद पढि पढि ब्रह्म अनमु गवाइया'।[20] लेकिन अनन्त का अन्त कहाँ? अनन्त ही जो ठहरा।

अनन्त होने के कारण ही वह अनश्वर, अविनाशी, अक्षर

15 वृहदारण्यकोपनिषद्—३, ४, २२।
16 पृ० १११, ४०
17 पृ० १११, ४८
18 पृ० ११११, १०
19 पृ० १०१ २१
20 पृ० ४०८, १०

गये । इतना होते हुए भी लेखक का यह लघु प्रयत्न 'तितीर्षु दुस्तर मोहादुडुपेनास्मि सागरम्' (पोत से भी दुस्तर महान् सागर को तैरने का) दुस्साहसमात्र समझा जा सकता है जिसका दोष लेखक को नहीं महान् अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के अध्ययन और उससे प्राप्त अदम्य प्रेरणा तथा अनवरत उत्साह को ही दिया जा सकता है ।

## आविर्भाव

कबीर का ब्रह्म निर्विवाद रूप से अजन्मा, अनादि तथा अयोनि है लेकिन भक्त की भक्ति में इतनी शक्ति है कि अपनी अनुभूति से वह उसे अन्तर में उद्‌भासित कर लेता है । इसी लिये कहा है, 'पूति पिता इक जाइया'[12] पुत्र (आत्मा) पिता (परमात्मा) को आविर्भूत कर लेती है और 'बिन महि साईं परगटै'[13] ।

## ब्रह्म के गुण

वास्कलि के आत्मा क्या है ? यह पूछने पर बाध को आत्मा ने दो बार मूक रह कर उसे अपना सन्देश दे दिया था—लेकिन उसके न समझने पर तीसरी बार बाध को कहना ही पड़ा था कि 'आत्मा मौन है'[14] । सम्भवत इसी लिए 'आत्मानं विद्धि' (अपने आप को जानो) का भारतीय दर्शन में मानव जीवन के साध्य के रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान बना हुआ है । आत्मा तो शान्त है लेकिन परमात्मा क्या है ?

12 पृ० ११५, १

13 रमैणी १८६

14 दास गुप्त—हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, भाग पृ० ४८ ।

'स एष नेति'[15] 'वह यह भी नहीं 'वह भी नहीं' इत्यादि। 'मन्त्र द्रष्टार ऋषियों ने इस नेति पद्धति से ही उसके स्वरूप को समझने का प्रयत्न किया है। कबीर की अनुभूति भी उनसे बहुत भिन्न नहीं है। अतः उसी पद्धति का आश्रय लेकर हम कबीर के ब्रह्म को समझने का प्रयत्न करेंगे। कबीर का ब्रह्म अनादि है और अनादि होने के साथ साथ वह अजन्मा भी है क्योंकि 'आव न जाई मरै न जीवै'[16]। और जो विश्व में नहीं आता वह अयोनि भी है, इसीलिये वह अनायास ही अमर भी है। 'अगम अगोचर रहै निरन्तरि'[17] वह न केवल अगम और अगोचर है अपितु अगम्य व अपार भी है, उस लोक कर आगे बढ़ने की बात तो दूर रही उस तक पहुँचना भी असम्भव नहीं तो अति कठिन अवश्य है। अन्तर्हित होने के कारण उसका पार भी नहीं पाया जा सकता, 'ना अन्तु न पार'।[18] और जिसका अन्त नहीं उसकी गहराई का भी क्या ज्ञान 'यथा अथाह थाह नहीं पावा'[19] जीव तो क्या शिव शुकदेव भी उस ब्रह्म की थाह न पा सके। उसके गुणों की थाह पाने में प्रयत्नशील कबीर उस [illegible] कर सन्तोष करते हैं। क्योंकि 'बेद पढ़ि पढ़ि ब्रह्मा [illegible] गवाइया'।[20] लेकिन अनन्त का अन्त कहाँ? [illegible] ठहरा।

अनन्त होने के कारण ही वह अनन्त [illegible]

15 बृहदारण्यकोपनिषद्—४ ४ २२।
16 ग्र ३३३, ३०
17 ग्र ३३३, ६
18 ग्र० ११२६, ३०
19 ग्र ३३३ ३३
20 ग्र ४०८, ३०

एवं 'अमर' है। काल की प्रताप गति से कोई नहीं बच सका लेकिन एक मात्र ब्रह्म 'सदा स्थिर' है। 'दुई अक्षर न खिसहि'[21], सम्पूर्ण वर्णमाला का विश्लेषण कर कबीर ने अनुभव किया कि 'रा' और 'म' दो ही अक्षर ऐसे हैं जो वस्तुतः 'अक्षर' हैं अतः भक्त जीवन की सार्थकता उन्हीं में तल्लीन होने में है। अनन्त कह कर भी कबीर के मन में ही उसकी अपनी महत्ता छिपी है। उसकी अतृप्ति एवं असन्तोष में ही उसकी अनन्य भक्ति के दर्शन होते हैं। ब्रह्म को अनन्त कहने के पश्चात वह और कुछ न कहें ऐसी बात नहीं अपनी सामर्थ्य को सीमित जान कर वह प्रयत्नशील न रहें ऐसी बात भी नहीं उसे लगन है अनवरत एवं अनन्य, वह भी अनन्त की। अरेख और अरूप असीम तथा अक्षय कह कर भी वह उसे छोड़ने को तैयार नहीं उसके अलौकिक रूप और गुणों को छोड़ कर लौकिकता के माध्यम से वह हमें अनुमेय का अनुमान कराना चाहता है अक्षय का ज्ञान कराना चाहता है और चाहता है अमूल्य का मूल्य बतलाना। कोटि हरि समानि नहीं राजा[22]। संसार के राजाओं से तो ब्रह्म का सेवन ही अच्छा है। अतः वह तो 'असम' और अनुपम है। लौकिक सम्पत्ति की तरह वो दिया न जाई[23] और एक बार प्राप्त करके उसे छोड़ा भी नहीं जा सकता। इस प्रकार 'अदेय' और 'अत्याज्य' ब्रह्म अनेय व अक्षेय भी है। उसकी तो बात ही दूर की है। उसके नाम-मात्र का भी 'बरनि न दहै'[24] और न ही सम्पूर्ण लौकिक सम्पत्ति देकर उसे खरीदा ही जा सकता

---

21 रमैणी ३०

22 पृ० ८३१, ५

23 ६११, ८

24 ३३६, २८

है इसलिए वह 'अक्रय भी है। लेकिन सन्तों ने अमूल्य ब्रह्म को मनु दे राम लीया है मोमि'[25]। इस प्रकार भौतिक स्थूल गुणों से परे के ब्रह्म को भावात्मक सूक्ष्म गुणों से भी दूर बताया है। कबीर का ब्रह्म घट घट निवासी होकर भी स्वयं अघट अशरीरी ही है और अघट होने के कारण ही एकमात्र वह अमन है। क्योंकि मना ब्रह्मा, मैसा इन्दु[26] विश्व में सभी कुछ तो मैला है। 'मावत दोसे जात न जानो'[27] अदृश्य वह इन्द्रियातीत भी है, उसे तो केवल चम चक्षुओं के स्थान पर अन्त चक्षुओं का ही विषय बनाया जा सकता है। विश्व के सम्पूर्ण वाङ्मय का उपयोग करने पर भी वह अवण मीय ही बना रहता है। "पढ़े सुन किया होई"[28] वेदों के पढ़ने व श्रवण से भी वह गम नहीं, जो वाणी उसका कथन नहीं कर ... कबीर उसे 'गूंगे का गुड़'[29] कह कर ही सन्तोष कर ...ता है। रूप रहित अदृश्य ब्रह्म इन्द्रियातीत होकर केवल अनुभूति-गम्य है, क्योंकि चंचलमन की उच्चतम कल्पनायें भी उस तक नहीं पहुँच पाती।[30] ज्ञान की साधिका बुद्धि भी इसे अपनी सीमा में नहीं बांध पाती।

कबीर कवि नहीं जो मन से ब्रह्म की कल्पना कर पाता, वह ज्ञानी भी नहीं, जो बुद्धि से उसका चिंतन कर पाता, वह योगी तो था ही नहीं, जो योग व सिद्धि द्वारा उसे प्राप्त कर पाता। वह तो अनन्य भक्त है, जिसने अनवरत लगन के कारण उसकी अनुभूति की है।

25 ३०० १४
27 ब ११७ ६०
29 " १००, १८।

26. ३०५, ११
28 पृष्ठ १२१ ६८।
30 श्लोक ८१।

कबीर का ब्रह्म निर्गुण है अर्थात् सभी गुणों से रहित क्योंकि गुणों का आरोप करते ही वह सगुण हो जाता है। जब गुणों के आधार-रूप को वह धारण करता है तो साकार बन जाता है। कबीर को ब्रह्म का यह रूप मान्य नहीं, इसीलिये उसने स्पष्ट ही कहा है कि अपनी इन्द्रियों को अन्तर्मुखी कर के कोई बिरला ही उसके निर्गुण स्वरूप को जान पाता है। जिसे अभिव्यक्ति देने में वह अक्षम है।[31] न केवल ब्रह्म को सर्व-व्यापक कहा है अपितु उसके अवतार रूप का खण्डन करते हुए कहा है कि यदि भक्त-उद्धारक भी कृष्ण नन्द का पुत्र था तो नन्द किसका पुत्र था?[32] कितना सरल और मधुर होते हुए भी सशक्त तर्क है। निरंजन ध्यावहु[33] कह कर उसने निर्गुण के ही निरंजन रूप का भी महत्त्व स्थापित किया है तथा अन्त में उसी को निरंकार और निरबानी कह कर उसकी आरती उतारी है।[34] एक मात्र वह निर्मल होने के साथ साथ विकार-रहित होने के कारण निर्विकार भी है, और जिसमें कोई विकार ही नहीं, उसमें दोष की सम्भावना कैसी? अतः वह निर्दोष भी है।[35] 'तहँ उतपति परलउ नाहीं'[36] जहां उत्पत्ति और प्रलय ही नहीं, वहां उसका नित्य स्थाई रूप स्पष्ट हो जाता है। वह न केवल जन्म और मरण से परे है अपितु सभी लौकिक गुणों से भी अतीत है।

'सभ घट देखउ पीउ'[37] प्रत्येक प्राणी में उसके दर्शन होते हैं, अतः वह सर्वान्तर्यामी है। और 'जीउ एक अरु

---

31 पृ १३३, ४० । 32 पृ० ३३८, ०० ।
33 पृ० ३३७, १८ । 34 पृ १३५०, ५ ।
35 पृ ११५४ ८ । 36 पृ० ३३३, ४८ । 37 श्लोक २२५ ।

सकल सरीरा[38] अतः वह सर्व-व्यापक भी है। सर्व व्यापक वह एक रूप या सम रूप है, क्योंकि घट फूटने पर भी उसकी स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। और वह तो 'त्रिभुवन महि रहिओ समाई'।[39] विश्व के अणु-परमाणु में व्याप्त होने के कारण वह सर्वत्र विद्यमान है। बांग देते हुए मुल्ला को धिक्कारते हुए उसने कहा है कि सर्वव्यापक वह सर्वज्ञ भी है।[40] अतः दुराचार करने से पूर्व मानव को उसके इस गुण का ध्यान रखना चाहिए तब वह अनायास ही पापकर्मों से बच सकेगा।

वह सर्व-व्यापक, सर्वज्ञ ब्रह्म ही सृष्टि कर्ता एवं सर्व स्रष्टा है। सृष्टि रचना क्रम पर प्रकाश डालते हुए उसने बताया है कि सर्व प्रथम प्रकाश पुनः प्रकृति एवं तत्पश्चात् प्राणी व मनुष्य की उत्पत्ति हुई है। 'माटी एक अनेक भांति करि साजी साजन हार'।[41] कुम्हार-ब्रह्म ने जिस माटी से अन्यान्य घटों का निर्माण किया है—उनमें परिवर्तन आ सकता है, लेकिन उपादान माटी तो वही रहेगी। 'अमु अमु मानि तनाइमा तांणा'[42] जुलाहा कबीर ब्रह्म को जुलाहा बनाकर उससे विश्व का ताना-बाना न बुनवाता तो उसकी आत्मीयता का परिचय कहां से मिलता। लेकिन इस रहस्य को उसके सिवाय और कोई नहीं जानता। इस आत्मा का विकास भी उस ब्रह्म से ही हुआ है और इसे आधार प्रदान करने के लिए उसने ही तो 'पुरि सकेमि के पुरीआ बाँधि देहु'[43] थोड़ी भी धूल की पुड़िया बांध कर देह

38 पृ. १३०, २१।
39 पृ ३४१, ११।
40 श्लोक १८४।
41 पृ १३९० ३।
42 पृ. ४८७, ३१।
43 श्लोक १०८।

कबीर का ब्रह्म निर्गुण है अर्थात सभी गुणों से रहित क्योंकि गुणों का आरोप करते ही वह सगुण हो जाता है। जब गुणों के आधार-रूप को वह धारण करता है तो साकार बन जाता है। कबीर को ब्रह्म का यह रूप मान्य नहीं, इसीलिये उसने स्पष्ट ही कहा है कि अपनी इन्द्रियों को अन्तर्मुखी कर के कोई बिरला ही उसके निर्गुण स्वरूप को जान पाता है। जिसे अभिव्यक्ति देने में वह असमर्थ है।[31] न केवल ब्रह्म को सर्व-व्यापक कहा है अपितु उसके अवतार रूप का खण्डन करते हुए कहा है, कि यदि भक्त-उद्धारक श्री कृष्ण नन्द का पुत्र था तो नन्द किसका पुत्र था ?[32] कितना सरल और मधुर होते हुए भी सशक्त तर्क है। निरंजन ध्याबहु[33] कह कर उसने निर्गुण के ही निरंजन रूप का भी महत्त्व स्थापित किया है तथा अन्त में उसी को निराकार और निरबानी कह कर उसकी आरती उतारी है।[34] एक मात्र वह निर्मल होने के साथ साथ विकार-रहित होने के कारण निर्विकार भी है, और जिसमें कोई विकार ही नहीं उसमें दोष की सम्भावना कैसी ? अतः वह निर्दोष भी है।[35] 'वह उतपति परलउ नाही'[36] जहां उत्पत्ति और प्रलय ही नहीं, वहां उसका नित्य स्थाई रूप स्पष्ट हो जाता है। वह न केवल जन्म और मरण से परे है अपितु सभी लौकिक गुणों से भी अतीत है।

'सभ घट वेखउ पीउ'[37] प्रत्येक प्राणी में उसके दर्शन होते हैं, अतः वह सर्वान्तर्यामी है। और 'जीउ एक अरु

31 पृ २११,१०। 32 पृ० २२८, ७।
33 पृ० २३७, १८। 34 पृ १३५०,५।
35. पृ ११५४, ८। 36 पृ ३२१, ४८। 37 श्लोक २६५।

सूक्ष्म सरीरा'[38] अतः वह सर्व-व्यापक भी है। सर्व व्यापक वह एक रूप या सम रूप है, क्योंकि घट फूटने पर भी उसकी स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। और वह तो 'त्रिभुवन महि रहिआ समाई',[39] विश्व के अणु-परमाणु में व्याप्त होने के कारण वह सर्वत्र विद्यमान है। बांग देते हुए मुल्ला को धिक्कारते हुए उसने कहा है कि सर्वव्यापक वह सर्वज्ञ भी है।[40] अतः दुराचार करने से पूर्व मानव को उसके इस गुण का ध्यान रखना चाहिए, तब वह अनायास ही पापकर्मों से बच सकेगा।

यह सर्व-व्यापक सर्वज्ञ ब्रह्म ही सृष्टि कर्ता एवं सर्व स्रष्टा है। सृष्टि रचना-क्रम पर प्रकाश डालते हुए उसने बताया है कि सर्व प्रथम प्रकाश पुनः प्रकृति एवं तत्पश्चात् प्राणी व मनुष्य की उत्पत्ति हुई है। 'माटी एक अनेक भांति करि साजी साजन हारे।'[41] कुम्हार-ब्रह्म ने जिस माटी से अन्यान्य घटों का निर्माण किया है—उनमें परिवर्तन आ सकता है, लेकिन उपादान माटी तो वही रहेगी। 'समु जगु आनि तनाइओ ताना'[42] जुलाहा कबीर ब्रह्म को जुलाहा बनाकर उससे विश्व का ताना-बाना न बुनवाता, तो उसकी आत्मीयता का परिचय कहां से मिलता। लेकिन इस रहस्य को उसके सिवाय और कोई नहीं जानता। इस आत्मा का विकास भी उस ब्रह्म से ही हुआ है और इसे आधार प्रदान करने के लिए उसने ही तो 'पूरि समेटि के पुरीआ बांधि देह'[43] थोड़ी सी धूल की पुड़िया बांध कर देह

---

38 पृ. ३३० ३१।
39 पृ० ३२१, ११।
40 श्लोक १८४।
41 पृ. १३५० ३१
42 पृ. ४८४, ३१।
43 श्लोक १८८।

सत्ता कर दिया—आज का बौद्धिक-मानव अपने वास्तविक अस्तित्व को समझे तो अनायास ही उसके 'अहं का विघटन हो जावे और भावनाओं का उदात्तीकरण हो वह सच्चे अर्थों में मानव-सत्य के निकट आ सकेगा। काश! सृष्टिकर्त्ता के इस खेल को कोई नहीं जानता।[44] यह सब स्रष्टा ही सबकर्त्ता एवं सर्व-नियन्ता भी है, क्योंकि यही तो संहारक महेश साधन यम का भी स्रष्टा है। इसलिए जीव से कहता है कि के 'तुमरो कहियो न होइ' क्योंकि विधाता ने तुम्हारे कर्मों के अनुरूप जो विधान कर दिया है, उसे मेटि न सकै कोइ[45] और 'करम बध तुम जीव'[46] फिर जीव की स्वतन्त्र सत्ता ही क्या? इस प्रकार कबीर पूर्ण विश्वास दिलवा देता है कि जो उजड़े को बसाता है, बस को उस और बस को बसमय कर देता है, एक मात्र वही सृष्टिकर्त्ता के सम्पूर्ण कार्यों का कर्त्ता है 'न हम की मान करहिगे ना करि सकै सरीर।[47] अत: जीव को उसकी अतुल्य शक्ति में पूर्ण विश्वास रखना चाहिए।

एकमात्र कर्त्ता ही सर्व-शक्तिमान् व सब-समर्थ है। तीनों लोकों को उसी ने श्रृंखला-बद्ध किया है अत एवं महान् स्वामी 'हरि तजि कत काहू के जाहीं।'[48] यह सर्व समर्थ ब्रह्म ही तो सर्व-नियंता भी है, क्योंकि 'आपे यह विस आप बनावें'[49] और उसके नियन्त्रण के बिना कोई कार्य सम्पन्न भी नहीं हो सकता। विश्व के बड़े से बड़

---

44 श्लोक १०६। 45 श्लोक ३१।
46 पृ ८७०, ३। 47 श्लोक ?
48 पृ. ३००, १८। 49 ११२३, २।

दाता उसके सम्मुख याचक बनकर गिड़गिड़ाते हैं ऐसे व्यक्तियों के आगे कबीर क्योंकर हाथ पसारे, वह तो स्वतः ही ऐसे दाता की खोज में है जो सब कुछ देने की क्षमता रखता हो 'सुख समंद दाता यानि पदारथ देत न बार'[50] जीवन में एक मात्र प्राप्य धर्म अर्थ, काम और मोक्ष सभी कुछ देने में वह क्षण भर का समय भी नहीं लगाता इससे स्पष्ट है कि सर्व नियंता ही एक मात्र सर्व-दाता है। सम्पूर्ण लौकिक और अलौकिक सम्पत्ति का एक मात्र 'दाता प्रभु रघुराई।'[51] जो ठहरा।

सर्व-दाता सर्व-व्यापक वह सदा स्थिर होने के कारण सर्व-समयी भी है न कोई स्थान और न ही कोई ऐसा समय जहां उसका अभाव हो। जीव के विश्वास और अनुभव की बात है कि उसका साक्षात्कार कर सके। वह सदा एकरूप या समरूप बना रहता है उसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं, क्योंकि शिव आदि देवताओं की तरह वह तो काल-कवलित होता नहीं। इसलिए एकमात्र वही सत्य-चिरंतन सत्य है अतः अनन्यभावेन उसी में पूर्ण आत्म-समर्पण करना चाहिए, क्योंकि उस व्यथित जीव का जिसने 'कहूँ न पाइया ठौर'[52] एक मात्र सहायक व आश्रयदाता वह ही है कबीर की अनुभूति को अभिव्यक्ति मिली— 'तिस बिन दूसर को नहीं।'[53] कितना सरल भावात्मक सत्य है।

'ज्योति सरूपी तत अनूप।'[54] अनुपम वह ज्योति स्वरूप है और उसकी ज्योति को अनुभव करने के लिए

---

50 पृ ८२६, ७
51 पृ. ७०७, २।
52 साख ६७।
53 साख ११३।
54 पृ. ३०४, १२।

आवश्यक है, कि जीव पहले इस बात को समझ ले, कि वह 'एक अनेक होई रहियो सगल महि।'[55] तब अपने अन्तर में भी उसकी सत्ता व ज्योति का प्रकाश अनुभव हो सकता है। अन्तर में उसकी ज्योति की अनुभूति होते ही 'छूटे भरमु मिले गोबिंदु' और 'बहुविध हाइ आनदु।'[56] इस आनन्द के लिए ही तो जीव जन्म भर चक्कर काटता रहता है। यह होता तब है, जब ब्रह्म की जीव पर कृपा हो। इस कृपा के परिणाम-स्वरूप ही माया का बन्धन तोड़ कर वह जीव के हृदय की कुटिल गांठि जब खोलै देत[57] तब उसका उद्धार होता है। अन्यान्य विश्व के सभी भक्तों के उद्धार के उदाहरण प्रस्तुत कर कबीर ने उसके कृपालु और उद्धारक स्वरूप पर प्रकाश डाला है। अब तक उसके महात्म्य का वर्णन अलौकिक गुणों के माध्यम से करवाया था, लेकिन वे गुण तो मानव बुद्धि को आश्चर्यान्वित अधिक करते हैं वैयक्तिक जीवन को प्रभावित कम। लौकिक धरातल पर उसकी सत्ता की महत्ता तो लौकिक गुणों के माध्यम से ही स्थापित की जा सकती है। इसीलिये तो बाह्य भ्रम के आवरण तथा आंतरिक अज्ञान को दूर कर अंतर को अपनी ज्योति से ज्योतित करने वाला उसे बताया है।[58] उसका कृपा पात्र भक्त अनायास ही पुकार उठता है राम समान न देखउ आन।[59] इसीलिए वह उसकी महत्ता को स्वीकार करते हुए भक्त कहता है कि जीवन भर 'हरि सेवा करउ तुमारी।'[60]

कृपालु वह ही तो भक्त का एक मात्र रक्षक है सत

55 पृ ११०७, २। 56 पृ ३४४ ११।
57 पृ ८५०, १०। 58 पृ ३२४, ११।
59 पृ ३३६, ३०। 60 पृ ४७०, ८।

प्रह्लाद की पत्र जिनि राखो और ऐसा करने के लिए उसी ने तो 'हरनाकसु नख बिदरिया।'[61] भगवान् के इस भक्त-रक्षक व उद्धारक रूप ने ही श्री कृष्ण को यह कहने पर विवश कर दिया था—

> 'यदा २ हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥'[62]

वह उद्धारक और रक्षक हो तो एकमात्र 'तरन तारन सोई।'[63] क्योंकि जो स्वयं ही भवजल के पार नहीं पहुँच सकता, वह औरों को क्या पार पहुँचावेगा। ऐसा उद्धारक ही जीव के सब कष्टों को दूर करता है और उसके भय का नाश कर एक मात्र सुफल शरणदाता सिद्ध होता है।[64] इस प्रकार लौकिक विपदाओं से जीव की रक्षा कर—लौकिक सम्पदाओं के माध्यम से अलौकिक आनन्द तक पहुँचाने वाला ब्रह्म ही भक्त का एक मात्र आश्रय स्थल है अतः हम सबको भक्त को उसी के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण कर देना चाहिए।

इस प्रकार कबीर का अनादि एवं अनन्त ब्रह्म जो न केवल अतीन्द्रिय और अज्ञेय ही है, अपितु वह तो अननुमेय भी है, किस प्रकार उसकी कोई झलक जिज्ञासु को दी जा सकती है। कबीर का दृढ़ विश्वास ब्रह्म की महत्ता से कम महान् नहीं, उनका अनुभव है, कि भक्त की अनन्य शरणागति व दृढ़तम भक्ति स्वभावतः ही ब्रह्म का भी दर्शन करवा देती है। कबीर का साधक प्रार्थना करता है 'हरि पद

61 पृ. ...[illegible] | 62 गीता अध्याय ४, ७ ।
63 पृ. ...[illegible] | 64 पृ. २६६, ३ ।

दृढ़ करि रहिए[65]' ऐसा करने से धीरे २ जीव का 'मिटै मोह तनु ताप और पुन उसे हरख सोग दाभै नहीं' और जब जीव को सुख-दुःख विचलित न कर सकेंगे, तब अवश्य ही वह महत् तत्त्व को अनुभव करना प्रारम्भ करेगा अथवा हरि आपहि आप।[66] कौन जानता है कि वह अपने ही भगवत् अंश को उभार कर अभेद दृष्टि से उसी की महत्ता को अनुभव करने लग जावे। इस प्रकार अननुमेय केवल अनुभूति गम्य है। नाम में तल्लीन होकर जिसने उसमें चित्त लगाया है 'कहू कबीर तौ अनभउ पाइया।[67] इस अनुभव में ही उसे सच्चे आनन्द की प्राप्ति होती है, इसी लिए तो 'अब मेरा मनु कतहूँ न जाहि।[68] क्योंकि आनन्द का वही तो एक मात्र आगार है। लौकिक दृष्टि से सभी प्रकार से अगम्य अदृश्य अज्ञेय व अप्राप्य ब्रह्म भी भक्त की पहुँच से दूर नहीं—इस पहुँच तक पहुँच जाने में ही तो कबीर की और भक्त की महिमा है, जिसका एकमात्र साधन है अनुभूति।

ब्रह्माण्ड में ब्रह्म की स्थिति कहां है? यह भी कम कौतूहलोत्पादक विषय नहीं? यों तो सर्वव्यापक होते हुए भी वह एकदेशीय नहीं। उसके गुणों में यह विरोधाभास ही जीव को आश्चर्यान्वित कर देता है। उसकी निरागी 'अकथ कथा' को कबीर कहने का प्रयत्न करता है कि वह तो वहां है जहां 'पावस सिंधु धूप नहीं छहीया वह उतपति परलउ नाही[69]' सिन्धु, वर्षा धूप छांह की तो बात ही अलग वहां

---

65 पृ ३३४, ५१। 66 श्लोक १८१।
67 पृ ३२८,१७। 68 पृ ३ १०३, १।
69 पृ ३३३, ४८।

तो उत्पत्ति और और प्रलय भी नहीं है। इतना ही नहीं वहाँ जीवन मिरतु न दुःख सुख बिआपै। ऐसा स्थान तो ब्रह्माण्ड भर में ढूँढ़ निकालना कठिन होगा। इससे भी बढ़ कर 'राति दिवस तह नाहि।' इसकी भी सम्भावना हो सकती है, लेकिन उसने तो प्रकृति के मूल भूत पांचों तत्त्वों की स्थिति को भी स्वीकार नहीं किया—'बसु नहीं पवनु पावकु फुनि नाही।' ऐसे स्थान पर ही तो अनुपम और अनन्य की स्थिति हो सकती है। 'उहा सूरज नहीं चन्द'[70] क्योंकि उसे तो किसी अन्य ज्योति से ज्योतित होने की आवश्यकता नहीं। सम्पूर्ण वाङ्मय का साधन जो बावन अक्षर हैं, इन्हीं में तीनों लोक एवं सम्पूर्ण सृष्टि आ जाती है, लेकिन 'जोइ अखर इन महि नाही क्योंकि 'ए अखर खिरि जाहिगे'[71] अत ब्रह्म की स्थिति तो सम्पूर्ण वाङ्मय में भी नहीं आ पाती, क्योंकि यह सीमित और नश्वर है। लेकिन वह इन गुणों की सीमाओं की परिधि से बाहर है कि उसकी स्थिति कहीं भी नहीं, लेकिन हम यह भी भूल नहीं सकते कि सर्व व्यापक एवं सर्वान्तिरयामी होने के कारण वह 'सगल घट भीतर'[72] निवास करता है 'इस घर मह है।'[73] वह न केवल इस घट रूपी घर में है अपितु उसकी इससे भी सूक्ष्म स्थिति है, अन्यथा घट के नष्ट हो जाने पर उसकी सत्ता कहां ? लेकिन ऐसा नहीं होता। 'हिरदै कमल महि हरि का वास'[73] इस स्थूल देह में भी उसका

70 पृ ११६९, १६।
71 पृ ३४०।
71A पृ. ४८३, २१।
72 पृ० ११६९, ४।
73 पृ. ३४९, ४।

निवास स्थान हृदय है अतः 'तिन महि खोजि' क्योंकि कबीर को पूर्ण विश्वास है कि 'एही ठउर मुकामा।'[74] भक्त अनन्य भक्ति से उसे हृदय में अनुभव कर सकता है, क्योंकि कबीर ने स्वतः ऐसा किया है। योगियों के लिए उसने 'अगम गम रचिया' और यह पुग है सहस्रदल कमल का। वहां निरन्तर प्रकाश रहता है, तथा वहीं अनहद नाद होता है जिसके आनन्द को वहां पहुंचने वाला जीव ही अनुभव कर कर पाता है, लेकिन उसके रहस्य को शेषनाग तक नहीं समझ सकता। अन्यत्र स्थिति को और स्पष्ट हुए कहा है कि सहस्रदल कमल में ब्रह्मरंध्र है उसी में ब्रह्मरसामृत का 'सरवरु भरा' है जिसका पान करने में ही मानव-जीवन की सफलता है।[76] लौकिकों को भी कबीर ने पुकार ० कर कहा है कि 'तन महि हरि[77]' अतः उसे बाहर ढूंढने का सब प्रयत्न व्यर्थ है अन्तर्मुखी बनो, उसे अंतर में अनुभव कर उससे ऐक्य स्थापित कर जीवन को सार्थक करो। 'तनु करि मटुकी मन माहि बिलोई' देह की मटकी में मन को बिलोने पर ही गुरु की कृपा से जीव 'पावै अमृत धारा।[78] 'पच्छिम अलह मुकामा'[79] मान कर बांग देने वाले मुल्ला को भी उसने ललकारा है साईं न बहरा होई 'जा कारन तू बांग देहि क्योंकि वह तो दिलहि भीतर होइ'[80] ब्रह्मानुभूति कर अब उससे ऐक्य ही स्थापित हो गया, तब पुनः कबीर

---

74 पृ. ११५५, १। 75 पृ ११६२ १६।
76 पृ ६६१, ४। 77 पृ ८७०, ३।
78 पृ ४७८, १०। 79 पृ ११४६, २।
80 श्लोक १८४।

को ब्रह्म की स्थिति के विषय में भ्रम हो गया वह अपने आपसे ही पूछता है कि 'पीउ महि जीउ बसै' अथवा 'जीउ महि बसै कि पीउ ।'[81] कितनी मधुर सरस और आह्लादक अवस्था है अब तो ब्रह्म स्थिति के ज्ञान की आवश्यकता ही नहीं रहती क्योंकि ब्रह्म-स्थिति का बोध जिस साध्य का साधन था उसकी प्राप्ति के बाद साधन का महत्त्व ही क्या ?

जिस सर्व-व्यापक की स्थिति का कुछ आभास मिला है, उस अरूप के रूप की कल्पना भी कुछ कम मधुर और अनुपयुक्त न होगी। उसके विराट रूप का कुछ अनुमान तो इसी से लग सकता है कि 'रोमावलि कोटि अठारह भार ।'[82] अठारह करोड़ पर्वत गृ खसाए तो उसकी रोमावलि मात्र है और कोटि घन जाके दरबार।' अत उसके इस विराट रूप के अनुरूप ही करोड़ों इन्द्र 'जाके सेवा करहि' अनन्त ब्रह्मा उसके गुण गान में 'वेद उचरै' लेकिन इतना होते हुए भी वह एसा है 'जाके रेख न रूप'[83]। कितना अद्भुत विरोधाभास है और है सत्य ! क्योंकि निर्गुण वह तो सगुण भी नहीं बनता फिर साकार की तो बात ही कहां ? सब-व्यापक होता हुआ भी वह तो शून्य मण्डल है। सर्व-स्रष्टा भी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में रमा हुआ है, लेकिन केवल 'सिराम मूरति नाहि।'[84] अतः 'माटी एक भेष धरि नाना'[85] उसके रूप को न तो किसी सीमा में बांधा जा सकता है और न

81 साख २६६।
82. पृ. ११६२, २०।
83 पृ ८४७, १०।
84. पृ ५२७, ११।
85 ४८०, १७।

किसी आकार में ही रखा जा सकता है या देखा जा सकता है। सम्पूर्ण प्रकृति में उसी के दर्शन होते हैं, लेकिन किसी एक स्थल पर उसके दर्शन नहीं होते। इतना ही नहीं 'बिनु पग चलै सुनै बिनु काना।' लौकिक रूप से रहित होते हुए भी सर्व-गुण सम्पन्न है और बिना किसी असुविधा के सभी कार्य कर लेता है। कुल मिला कर वह रूप, रंग और आकार से अतीत है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार निर्गुण और सगुण से परे वह गुणातीत है।[87]

इससे कबीर के ब्रह्म का रूप स्पष्ट है लेकिन उदाहरण स्वरूप अवतार राम या कृष्ण की झलक भी बहुत स्थानों पर मिलती है, इससे हम उसे अवतार में विश्वासी नहीं कह सकते। यह साहित्यिक परम्पराएं और सामाजिक जीवन के लिए उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत स्थल हैं, अतः उनके आधार पर कबीर में 'साकार ब्रह्म के दर्शन करना भूल होगी। इतना ही नहीं, बहुत से स्थलों पर तो उन्होंने 'गोकुल' 'पीताम्बर' 'राम' आदि शब्दों का प्रयोग भी निराकार के लिये ही किया है।[88] अपने 'राम' को 'दाशरथि' न कह कर उन्होंने इस भ्रम का निवारण भी कर दिया है। उसके रूप के वर्णन और आख्यान में अपने आपको असमर्थ पाकर अन्त में उसने कहा है कि न तो उसकी उपमा दी जा सकती है और न ही किसी से तुलना की जा सकती है। चर्म चक्षुओं से उसे देखा नहीं जा सकता, अन्य इन्द्रियों से उसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता और बुद्धि

---

86 पृ १०२, ११।      87 पृ ११६२, १६।

88 पृ ८२५, ३, पृ. ४८८, १३, पृ ३३५, ४४।

से भी उसे जाना नहीं जा सकता। ऐसा 'सत सरूप' जो है वह तो केवल 'जोति सरूपी' है।[89] अतः उसकी सत्ता की तरह उसके रूप को भी केवल अनुभव ही किया जा सकता है।

### ब्रह्म का आत्मा से सम्बन्ध

'यह राम का अंसु'[90] यह आत्मा ब्रह्म का अंश है और इसकी उत्पत्ति भी उसी में से हुई है। लेकिन विश्व में आ जाने के बाद उसकी स्थिति उसी प्रकार की हो जाती है 'जस कागद पर मिट न मंसु।' इससे स्पष्ट है कि इसका अपना अस्तित्व बन जाता है। लोक में निकटतम एवं उत्कृष्ट सम्बन्ध दाम्पत्य ही है अतः कबीर आत्मा को सम्बोधित करके कहता है, कि 'जग जीवन प्रान अधारा' ब्रह्म को 'बैरी तू राम न करसि भतारा।'[91] आत्मा को भी यह अनुभव करने में देर नहीं लगती। आत्मा ने कबीर की सीख को स्वीकार किया और नव-वधू की भांति 'घू घट काढ़ि गई।'[92] अपने पति के समीप यद्यपि हृदय से पति की महत्ता को पूर्णतया अनुभव कर लिया है, फिर भी उसे सन्देह बना हुआ है कि 'न जानउ किया करसी पीउ'[93] क्योंकि जीवन का यौवन तो उसे पहिचानने में ही व्यतीत हो गया जो कि वास्तविक संयोग का समय था, लेकिन उसे अपने पति पर विश्वास है कि वह उसे पूर्ण तथा अपना लेगा अपने विश्वास का सत्य पाकर वह आह्लाद

---

89 पृ. १४४, ११।
90 पृ. ८७१ ५।
91 पृ. १५५, ५।
92. पृ. ५८४, ३५।
93. पृ. ७१२, ९।

में पुकार उठती है 'हरि मेरो पिउ हउ हरि की बहुरिया ।'[94] पत्नी पति से धीरे धीरे घनिष्ठता बढ़ाती चलती है जब तक उनमें पूर्ण ऐक्य नहीं हो जाता। ऐक्य ऐसा जिसमें दोनों का अलग अस्तित्व किसी भी प्रकार अवशिष्ट न रह जावे। 'हरदी पीयरी चूना उज्जल'[95] दोनों मिलकर अरुण हो जाते हैं, दोनों के रंग ही नहीं, रूप और गुण में भी परिवर्तन आ जाता है और इस प्रकार दोनो अपनी अलग सत्ता समाप्त कर नवीन रूप ग्रहण कर लेते हैं। ऐसा ही प्रेम धन्य है जिसमें त्याग हो—व्यक्तित्व का अस्तित्व का। बहुरिया आत्मा की महत्ता इसी में है, कि इस प्रकार वह अपना अस्तित्व पति में ही विलीन कर दे। 'हइ अरु आतु जब मिले तब मिलन न जाने कोइ।'[96] इस मिलन को न कोई जान ही सकता है क्योंकि 'एक जोति एका मिलि'[97] यह तो एक ज्योति का दूसरी ज्योति में लीन होना है और उसका 'तेज तेजु समाना'[98] तेज महातेज में समाहित हो गया। इस प्रकार ब्रह्म से उद्भूत होकर लोक में विचरण करने वाली आत्मा—उसकी पत्नी बनकर उससे ऐसा ऐक्य विधान करती है जो अनायास ही उसके अस्तित्व तक को उसी में विलीन कर देता है और वह सदा के लिए अपने उद्गम स्रोत में आ मिलती है।

यह आत्मा ही देहधारी होने पर जीव का रूप ग्रहण करती है। इस प्रकार जीव के दो अंश हैं—आत्मा और देह।

---

94 पृ ६६१ १।
95 पृ १४२ ३८।
98 पृ ८५०, ११
96 श्लोक ४६ ५०।
97 पृ. ३३५ ४५।

अभी हमने ऊपर देखा है, कि आत्मा का उद्भव-स्थल ब्रह्म है और उसने 'भुरि सकेसि क पुरीया बांधी देह'[99] थोड़ी-सी धूम संगृहीत कर उसकी जो पुड़िया बांधी—उसी से मानव देह का निर्माण हुआ, जिसमें प्राण-तत्त्व का संचार होने पर वह जीव कहलाया। सर्व-व्यापक ऐसे जीव के भी 'घट घट निवासी है', उसी से उसका महत्त्व बना हुआ है।[100] एकमात्र उत्पादक ब्रह्म ही तो जीव का स्वामी है और जब तक जीव उसे पहिचान न ले, तब तक उसका इस संसार से छुटकारा सम्भव नहीं[101] क्योंकि—

'God known is no God and God realised is no more a God

'तुम दाते हम सदा भिखारी' लौकिक जीव को जब अपनी सीमित सामर्थ्य और आपत्तियों का ध्यान आता है तथा अपने अभावों की पूर्ति के लिए उसे किसी सहायक की आवश्यकता अनुभव होती है, तब अनायास ही अपने सब-सामर्थ, सब-दाता पिता के सम्मुख झोली फैला देता है। दु:संगति के कारण काम क्रोध लोभ मद, मोह मत्सर आदि दुर्गुणों का शिकार जीव अपनी हीनता का अनुभव कर कहता है, 'गोविन्द हम ऐसे अपराधी जिसने जन्म देने वाले की 'भाउ भगति नहीं साधी' और विश्व के सब दुर्गुण संचित कर लिए हैं अतः हे भगवन! कष्ट में पड़े हुए इस अपने इस जन को 'राखहु' और अपराधी यह विश्वास दिलवाता है

99 साख १८८। 100 २ ३४४ ७।
101 २. १४०, ८ 1 २ ११११ १४।

कि अब सेवा करउ तुम्हारी।[1] भगवान् का वह अपराधी है और वह इसका रक्षक एवं आश्रय-स्थल। इतना ही नहीं परिणाम स्वरूप वह भगवान का सेवक भी बन जाता है। उसके समीप रहने वाला सेवक ही धीरे धीरे उसके महात्म्य को अनुभव करता हुआ—भक्त बन बैठता है [2] वह भक्त उससे घनिष्ठ होता जाता है और एक्य सम्बन्ध स्थापित करने में प्रयत्न शील रहता है। ज्यों २ 'बाती सूखी और 'तेलु निखूटा' त्यों २ देह का अंत समीप आ गया और धीरे धीरे २ 'तूटी तन्तु न बज रबाबु।[4] तब देह का पक्षी उड़कर अपने आदि स्थान को चला जाता है। उससे सम्बन्ध जोड़ते ही जीव को इस जगत में और कोई दृष्टिगोचर ही नहीं होता, वह कहता है हमारा को नहीं हम किसहू के नाहि। इसी लिए बाती बार जिनि इहु रचनु रचाइआ तिस ही माहि समाहि।[5] 'नदी तरंग की तरह एक्य होगा और महा शून्य में शून्य विलीन हो जावेगा, जिसका कुछ पता भी न लग सकेगा।[6] और पुनः कभी पुनरागमन भी न होगा। कबीर को इतने मात्र से सन्तोष नहीं, वह तो जीव की सत्ता को और भी महत्ता प्रदान करते हुए कहता है कि अनहद श्रवण करने के बाद एक 'अचरजु भइया' और वह आश्चर्य क्या था कि 'जीव ते सीउ जीव तो स्वयमेव शिव में परिणत हो गया।[7] इस ऐक्य के परिणाम-स्वरूप अनुभूति में भी परिवर्तन

---

2 पृ १७१, ८। 3 पृ ३२१, ४२।
4 पृ ४७८ ११। 5 श्लोक २१४।
6 पृ. ११०३, ४। 7 पृ. ३४४, १२।

था गया। 'तब याही थाहु एहु न होई।'[8] कि अब जीव की सत्ता ही न रह गई और सबत्र सर्व-व्यापक ही छा गया। अनुभूति का यह चरम ही तो मानव-जीवन का साध्य है, यही जीव के देहधारी होने की सार्थकता है।

## ब्रह्म-कबीर सम्बन्ध

कबीर देहधारी जीव अवश्य थे, लेकिन अपनी अनुभूति के आधार पर ब्रह्म से उन्होंने जो सम्बन्ध स्थापित कर लिया था, वह प्रत्येक जीव का नहीं हो सकता। आत्मीयता ने उनकी अनुभूति को सशक्त अभिव्यक्ति देकर भी हृदयग्राही बना दिया है। 'मुई मेरी माई' लौकिक माँ के अभाव में उसने सम्पूर्ण स्नेह उस परम पिता से पाया था—इसीलिए कहा है—'हूउ पूतु तेरा तू बापू मेरा।'[9] उत्पादक पिता ही पालनहार, रक्षक व सतगुरु के माध्यम से मार्ग-दर्शक रहा है। इसीलिए निःसंकोच उससे अपराधों की क्षमा मांगने चला आता है 'रामईआ हउ बारिकु तेरा।'[10] कहते हुए अपनी दीनता प्रगटाता है। 'तुम समसरि नाही दइआलु मोहि समसरि पापी।'[11] उसके पश्चाताप से विगलित हृदय की करुण ध्वनि में उसकी विनयिता का भी परिचय मिलता है। इतना ही नहीं, पापी ने अपना पूरा परिचय दिया है 'जा का ठाकुरु तुही सारिंगधर मोहि

8. पृ. ३४२, ३३ 9 पृ ४०६, ३।
10 पृ ४८८, १२। 11 पृ ८२६, ३।

कबीरा नाच रे।'[12] लेकिन भगवान नहीं पसीजे, उनके द्वार पर तो सदा ही न जाने कितने पापियों की भीड़ जो लगी रहती है। कबीर ने उसने नाम को आधार बनाया था अत उसे चिंता नहीं और उसने स्पष्ट ही कहा है 'कहि कबीर गुलाम घर का जीयाई भावे मारि।[13] यह है आत्म-समर्पण की और भगवद्विश्वास की। सम्भवतः इसी लिए जिस हाथी के सम्मुख उसे कुचलने के लिए छोड़ा था उसी ने आकर उसे नमस्कार किया था।[14] और जिस जंजीर से बांध कर उसे गंगा में डूबने के लिए फेंका था उस जंजीर को ही गंगा ने तोड़ कर बहा दिया था।'[15] इन घटनाओं में भौतिक सत्य हो या न ? लेकिन इनके अन्तर्हित प्राणवान् सत्य महान है। भक्त के विश्वास में अद्वितीय शक्ति है। कुत्ते की भांति कृतज्ञता प्रगटाते हुए उसने कहा है 'मुतिया मेरा नाव' और 'गले हमारे जेवरी जहं खींचे तहं जाव'[16] सेवक को सर्वतोभावेन स्वामी की सेवा करनी चाहिए—ऐसे उत्कृष्ट सेवक के ही गुण हमें कबीर में मिलते हैं। इतना ही नहीं, उसने अपने आपको पूर्णतः स्वामी पर निर्भर बना दिया है—'तू जलनिधि हउ जल का मीनु'[17] और इस रूप में वह सदा जल में रहता है, क्योंकि जलहि बिनु खीनु। उसके पिंजरे का वह तोता है उसके वृक्ष पर रहने वाला वह पक्षी है ऐसी अवस्था में यम-

12 पृ ३३८, ६६।
13 पृ. ३३८,६६।
14 पृ ८८०, ४।
15 पृ ११६२, १८।
16 श्लोक ७४।
17 पृ ३२३, २।

राम उसका बिगाड़ ही क्या सकता है। लेकिन भगवान से यह सब सम्बन्ध स्थापित करके भी उसे सन्तोष नहीं होता— इसलिए कबीर की आत्मा पुकार उठती है—'गाउ गाउ री दुलहनी मंगलाचार।' यह मंगलाचार गाने की आवश्यकता क्यों है ? क्योंकि 'राम राइ सिउ भाँवरि लैहउ और भवरे लेकर 'आतम तिह रंग राती।' जब अपने आपको पूर्ण तया उसके रंग में रंग लिया, तब उसने अनुभव किया, कि 'मेरे गृह आये राजा राम भरतारा।' उसके इस रूप को देखने के लिए असंख्य 'सुरि नर मुनि जन आये और उनके सामने ही कबीर कहते हैं, कि 'मोहि बिआहि चले हैं पुरख एक भगवाना।[18] 'हरि मोर पिउ' और कबीर 'हरि की बहुरिया' बन चुका है। 'राम बड़े मैं तनक लहुरीया' कह कर उसने अपने आप को उनसे थोड़ा सा छोटा स्वीकार किया है। यद्यपि 'एक सगि' उनका 'बसेरा' है, फिर भी पत्नी-कबीर अनुभव करते हैं, कि उनका मिलनु दुहेरा[19] मिलन कठिन है यानि नाराज सा हो गये हैं। उन्हें पूछती है—'करवटु दे मारउ काहे कउ मारे' क्यों इस प्रकार मुँह मोड़ कर तुम मुझे मारते हो ? अपने पातिव्रत्य का पूर्ण विश्वास दिलवाते हुए कहती है—'अनु तनु जीअहि संगु न मोरउ' और मुझ पर कितनी ही विपत्ति क्यों न पड़ी हो भी तुमसे प्रीति न तोरउ। भगवान् की प्रियतमा बनने में जिस अनन्यता की आवश्यकता है उसी के कारण तो उसने लोई का पति बनना अस्वीकार करते हुए उस से नाता तोड़ लिया है और भगवान का विश्वास दिलवाया

18 पृ ५८२,२४।

19 पृ. ५८१,३०।

'हम तुम बीचु भइयो नहीं कोई। इसलिए 'तुमहि सुक्ष मारि हम सोई।'[20] पत्नी उसके इतना निकट आ गयी है कि वह तो सदा उसी के "रंगि राती'[20A] और उसी के आनन्द में तल्लीन हो जाती है। धीरे २ उसने अपना महत्व और अस्तित्व ही समाप्त करने का प्रयत्न किया है—पूर्ण आत्म समर्पण के माध्यम से 'तेरा तुझ कच सउपते किया लाग मेरा।'[21] उससे आत्मीयता स्थापित करने में इससे कम असन्यता साधक भी तो नहीं हो सकती। सिंधौरा (सती होते समय पति से सदा मिले रहने का चिह्न) जो हाथ में ले लिया है तब उसे संसार की चिन्ता ही क्या ?[22] क्योंकि उसने तो 'हरि भेटत आपु मिटाइया।'[23] इसी लिए 'ता जिस मरनै ते जगु डरै' उसी मृत्यु में कबीर को आनन्द मिलता है क्योंकि देह मुक्त होकर ही तो वह पूर्ण-ऐक्य का आनन्दाप भोग कर सकता है। 'मरने ही ते पाइए पूरन परमानन्दु।'[24] इस प्रकार उसने अपने प्राण-तन्तुओं से ऐसा मिला दिया कि दोनों में किसी भेद का पता ही नहीं लगता। 'ओरा गरि पानी भइया'[25] और पानी में जा मिला तो उसकी सत्ता का कोई चिह्न भी अवशिष्ट नहीं रहता, इसीलिये 'राम कबीरा एक भये हैं कोउ न सकै पछानी'[26] उसके इस ऐक्य का किसी को बोध भी नहीं हो सकता। किसी को तो क्या—यह ऐक्य

---

20 पृ ४८४, ३१। 20A ८२५, २।
21 श्लोक २०३। 22. श्लोक ७१।
23 पृ ६२५, ६। 24 श्लोक २२।
25 श्लोक १७०। 26 पृ ६६१, ३।

इतना घनीभूत होजाता है कि स्वतः उन्हें भी इसका भान नहीं हो पाता, इसी लिये तो वे कहते हैं—पोम महि जीव वसे जीव महि वसे कि पीव। तल्लीनता में इतना खो गये कि यही नहीं बोध होता कि यह हृदय है जो भगवत्तल्लीन है अथवा भगवान ही हृदय में आ बसे हैं इतना ही नहीं, इसका चरम तो वहां आता है जहां वे कहते हैं कि 'घट महि जीव कि पीव'[27] हद है अनुभूति की और आत्मीयता की। और ऐसा हो भी क्यों न—क्योंकि यह ब्रह्म अब उसके लिये कोई बाहर का तत्व नहीं है—वस्तुतः वह तो 'तू तू करता तू हुआ' अपने और पराये के भेद को उसने इतना अधिक मिटा दिया है, कि अपना अस्तित्व ही लुप्त करके वह स्वतः ही 'वह' बन गया है और अब उसे 'तू' ही 'तू' दृष्टिगोचर होता है। इसी को वर्णों में तत्त्वमसि कहा गया है जो सन्तों में 'सोऽहम्' के रूप में अधिक प्रचलित हुआ था और आज तक भारत के बहुत से सन्त-सम्प्रदायों में उसका यह रूप 'गुरुमन्त्र' के रूप में स्वीकार किया है। दार्शनिक शंकर के तर्काधारित अद्वैत की ही सन्त कबीर ने अनुभूतिपरक व्याख्या प्रस्तुत की जो अधिक हृदयग्राही व प्रभावोत्पादक सिद्ध हुई।

यद्यपि भक्त, सन्त और गुरु भी जीवकोटि के ही हैं लेकिन अपने सदाचार तथा आत्मिक गुणों के विकास से उन्होंने अपने को उत्कृष्ट मानव बना लिया है और ब्रह्म

---

27 श्लोक =३६

28 श्लोक १८४।

से उनका अधिक सम्बन्ध घनिष्ठ व आत्मीयता पूर्ण हो जाता है। सर्पिणी माया से बच कर जीव जब ब्रह्मोन्मुख होता है और भजन द्वारा उससे आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित करता है तब वह भक्त कोटि में आ जाता है। और कष्ट में पड़े हुए ऐसे भक्त का रक्षक व उद्धारक ब्रह्म है।[29] प्रह्लाद आदि अन्यान्य भक्तों की रक्षा के लिये पहुँचने वाले भगवान का वर्णन अनेक स्थलों पर मिलता है।[30] सर्वग्राही यम समझे गई है[31] लेकिन भक्त पर उसका कोई वश नहीं चलता। स्वात सहानुभूति कर जब भक्त लोक-कल्याण की भावना से माग प्रवचन का कार्य भी करने लगता है तब वह सन्त अवस्था को प्राप्त करता है। जीव को भव-पार ले जाने में ऐसे सन्त का विशेष महत्त्व है क्योंकि उनकी संगति से ही जीव माया के आवरण से बच सकता है। अत कबीर ने सबा के दो ही अधिकारी बताए हैं—'एकु सन्तु इकु रामु'। और इनमें भी साधक उपादेय सन्त है, क्योंकि रामु जुदाता मुकति का सन्तु जपावै नाम।[32] मध्यकालीन सन्त को मोक्ष की आवश्यकता नहीं, उसे तो 'नाम' में तल्लीन होना है, जो अपने आप में मोक्ष से भी कहीं अधिक सुखदायी स्थिति है। ऐसे सन्त की निन्दा नहीं करनी चाहिए क्यों कि सन्त रामु है एकु।[33] और गुरु—उसके बिना भगवत्प्राप्ति की तो बात ही दूर रही—भगवत् दर्शन भी सम्भव नहीं—क्योंकि जीव और 'सतिगुरु' के मध्य

---

29 पृ. १९२३, ३। 30 पृ. ११६४, ४।

31 पृ ८२५, १। 32. सलोक १६४।

33 पृ. ७१३, ५।

'सद्गुरु' ही तो एक मात्र सेतु व साधन है और वह भी भगवत्कृपा के बिना प्राप्य नहीं।[34] उसके मिलने पर 'गुरपरसादी हरि धनु पाइआ।'[35] इसलिये वह न केवल ब्रह्म के समपद का ही अधिकारी है।[36] अपितु सन्तों का अनुभूति गत तक दार्शनिकों के तर्क से कहीं से अधिक सशक्त हृदय ग्राही और प्रभावोत्पादक है—

गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागूं पांय।
बलिहारी तिन गुरु की, जिन गोविन्द दियो दिखाय।

सो यह है गुरु और गोविन्द का महत्त्व व परस्पर सम्बन्ध। सम्पूर्ण सन्त साहित्य में ही अलौकिक साध्य से लौकिक साधन का अधिक महत्त्व है क्योंकि वह लभ्य है और क्रियात्मक दृष्टि से अनुकरणीय भी।

### ब्रह्म और माया का सम्बन्ध

ब्रह्म ही माया का उत्पादक है, स्थिति में आते ही माया न केवल सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को भरमाना प्रारम्भ कर देती है।[37] अपितु वह तो ब्रह्म को ही अपना स्वामी भी बना लेना चाहती है 'जोइ खसमु है जाइआ। पूति बापु खेलाइआ।'[38] लेकिन कर्ता उसकी खेल का पात्र नहीं बनता और वह सदैव माया निरपेक्ष रूप धारण किए रहता है, इतना ही नहीं उसका उत्पादक होकर भी उसमें ब्रह्म का अंश नहीं— इस प्रकार माया भी ब्रह्म-निरपेक्ष है।[39] दोनों ही एक

34 ८७२, ७।
35 ग ८७१, ६।
36. ग ३४४, ७।
37 श्लोक १०।
38 ग ११६४, २।
39 ग ३६४, ४२।

दूसरे से पूर्णतया निर्लिप्त रहते हैं, वस्तुतः इसी से दोनों की स्थिति है क्योंकि माया-संवलित होकर ब्रह्म ब्रह्म नहीं रहता और ब्रह्ममय होकर माया माया नहीं रहती।

ब्रह्म-सृष्टि का सम्बन्ध

आगे दिये गये सृष्टि के विराट रूप का स्रष्टा ब्रह्म ही है। उसने प्रकाश का प्रसार किया इस प्रकाश में से ही सम्पूर्ण जड़ और चेतन जगत् का विकास हुआ। और इस स्रष्टा की ही झलक उसके अणु-परमाणु में मिलती है।[40] इस प्रकार दोनों का अन्योन्याश्रय घनिष्ट सम्बन्ध स्पष्ट होता है क्योंकि एक के बिना दूसरे की स्थिति नहीं और दूसरे के बिना प्रथम की शक्ति के विकास का क्या परिचय। इतना होते हुए भी सृष्टि ब्रह्म की तरह अनश्वर और अनंत नहीं अपितु परिवर्तनशील वह नश्वर और सांत है।[41] लेकिन दार्शनिक शंकर के विचार की तरह उसकी कोई सत्ता ही न हो ऐसी बात नहीं, वह यथार्थ है, केवल भ्रममात्र नहीं।

---

40 पृ १३४६, १।
41 पृ २४०, ७७।

—४—

# सृष्टि

'कोइ जु खोलहि अंबरि तारे ।
किनि कोइ चीते चीतन हारे' ।[42]

तारों से भरे आकाश को देख कर कबीर की जिज्ञासा साकार हुई, कि इसका चितेरा कौन है ? अन्तःकरण को टटोला तो पता चला कि 'सारी सिरजनहार की जानै नाहीं कोइ ।'[43] समस्या उलझ गई, सुलझाने के प्रयत्न में जीव को आभास मिला—'उमा का मरमु मोही पऊ जान ।'[44] भक्त और निकट पहुँचा तो उसे लगा कि 'क जानै आपन धनी' अथवा 'कै दासु दीवानी होइ ।' भक्त का आत्म विश्वास बढ़ा और उसने अनुभव करना आरम्भ किया—'सभ महि पसरिया ब्रह्म पसारा ।'[45] यह सृष्टि तो और कुछ नहीं, उसी का प्रसार मात्र है । यह प्रसार कैसे हुआ, इसके क्रमिक विकास की भी अपनी एक कहानी है—'अवलि अलह नूर उपाइआ सब प्रथम स्रष्टा ने प्रकाश को प्रसारित किया और उस 'एक नूर

42. पृ ३११, ८६ ।
43 साख १०६ ।
44 पृ ३२४, ४२ ।
45 पृ. ३२१, २६ ।

टे सभु कछु उपजिया।'[46] उसमें भी सूम और चांद के उदय होने के साथ ही साथ 'उव भई सभ देह।'[47] विश्व में प्राण तत्व का संचार हुआ और वनस्पति, प्राणी तथा जीव में इसका क्रमश विकास हुआ। प्राय सम्पूर्ण सन्त-साहित्य में सृष्टि-रचना क्रम का यही विकास देखने को मिलता है।

'सासिकु ससक ससक महि सासकु पूरि रहिओ सब ठाई'।[48]

सम्पूर्ण ब्रह्मांड उसी का प्रसार है, अतः सम्पूर्ण ब्रह्मांड में उसकी स्थिति है। रचना के लिये उसे किसी बाह्य उपादान की आवश्यकता नहीं और 'एक आपी अनेक भांति करि साजी साजनहारे' एक ही मिट्टी को विभिन्न रूप प्रदान कर उसने अखिल विश्व का निर्माण किया है और एक मात्र सत्य वही सब में है तथा उसी के नियन्त्रण में सृष्टि संचरण कर रही है, क्योंकि 'तिसु का कीमा सभु कछु होई'। लेकिन कर्ता की कतृत्व-शक्ति का परिचय किसी को नहीं मिल पाता। 'बावन अखर लोक त्रै सभु कछु इनही माहि' सम्पूर्ण सृष्टि तो इन बावन अक्षरों में ही सीमित है 'ए अखर खिरि जाहिगे' यह अक्षर और इनसे निर्मित सृष्टि नष्ट हो जावेगी लेकिन इनका निर्माता नहीं।[49] 'धरमि प्रकास को करगह बनाई तथा सूम चन्द्र की ढरकियों के सहारे कोरी ने ब्रह्मांड रूपी वस्त्र का बिताम तना है, जिस रहस्य को कोई नहीं जानता केवल जोलाहे कब अपना चीन्हा' और विश्व जुलाहे के सूत में उसने अपना सूत मिलाकर उससे पूर्ण ऐक्य स्थापित कर

46 पृ १३४२, ३।
47 श्लोक १७५।
48 पृ १३४१ ३।
49 पृ. ३४०, १।

लिया है।[50] पिंजरे में जिस महान् चित्र को अंकित किया है, वह 'चित्र अचित्र हुई अचरज' तो उसमझाने वाला चित्र है, अतः उसे छोड़ पिंजरे में चित्त लगाओ।[51] और उसमझाने वाली यह सृष्टि स्थिर भी तो नहीं—क्योंकि 'नैनन देखत इहु जगु जाई'।[52] अतः सांसारिक सम्पत्ति में मोह करने वाली लोई को समझाया है—'जइ उपजी बिनसै तहि जैसे पुरबिन पात'।[53] नश्वर जगत् में कुछ स्वच्छ भी तो नहीं ब्रह्मा, इन्द्र, शिव आदि के साथ ही साथ 'मैला सगला इहु संसारु'।[54] अपवित्र यह जगत् 'काजल की कोठरि' है, और 'अंधे परे तिस माहि'[55] फिर निकलने का मार्ग हो कहाँ सम्भव है? उसने स्पष्ट ही जीव को सतर्क किया है, कि 'इक राम नाम बिनु झूठा जगु माइआ धंधा'।[56] इस पीहर में उसे रहना भी तो केवल चार दिन है अतः भगवद्भजन में ही जीवन का सदुपयोग करना चाहिए।[57]

आखिर यह संसार है क्या? 'पंच तत बिसथार'।[58] अतः लौकिक सम्पत्ति के कारण अपने आपको गौरवशील न समझना चाहिए, क्योंकि 'चंदु सूरजु जाके तपत रसोई' और 'बैसंतरु जाके कपरे धोई' ऐसा 'तिह रावन घर दीवा न

---

50 पृ. ४८४, ३८।
51 पृ. ३४०, १८।
52 पृ. ३०५, ११।
53 पृ. ८२७, १०।
54 पृ. ११२८, ३।
55 सलोक २६।
56 पृ. ११८, १०।
57 पृ. ३३३, २०।
58 पृ. ८२१, ६।

जाती'।[59] इतना ही नहीं, जिसके पास रक्षा के लिए लंका सा कोट समुद्र सी खाई थी यम के आने की तो 'तिह रावन घर खबरि न पाई'। अतः न केवल सांसारिक सम्पत्ति का अपितु 'धन जोबन का गरबु न कीजै' क्योंकि यह सब तो 'कागद जीउ गलि जाहिगा।'[60] ऐसी अवस्था में दुष्कर्मों द्वारा अर्जित धन को संचित करने का क्या लाभ ? क्योंकि 'नांगे आवनु नांगे जाना'[61] इस लिए क्षणिक जीवन और नश्वर संसार में लौकिक सम्पत्ति का मोह और संचय त्याग कर 'राम नाम धनु करि संचउनी सो धनु कतही न जावै।'[62] 'नाम' धन अर्जित करो जो कि वास्तविक सम्पत्ति है।

जीवात्मा

'कहु कबीर इहु राम का अंसु।'[63]

आत्मा परमात्मा का अंश है और देहधारी होने पर यही जीव का रूप ग्रहण कर लेती है। 'उपजी पेड़ ते'[64] परमात्म-वृक्ष से उत्पन्न होकर यह प्राणी-जगत् में विचरण करती है और फिर 'परमेसुर परम हंसु ले सिधाना।'[65] तो जीव ने आश्चर्यान्वित होकर पूछा 'बजावन हारो कहा गइओ।' देह के अंग और इन्द्रियों के साधन तो वैसे ही प्रतीत होते हैं लेकिन अब 'मुखहु न निकसै बाता'। इसी का उत्तर दिया है कि –

59 पृ. ४८१, २१।
60 पृ. ११०१, ११।
61 पृ. ११४७, ?
62 पृ. ३३६, ४८।
63 पृ. ८६१, ५।
64 सलोक १२३।
65 पृ. ४८०, १८।

'इह तन बसतु गुपाल की जब भावै लेइ खसि।'[66] यह तो उसी की सम्पत्ति है, जब चाहे ले जावे। 'इया मन्दिर महि कौन बसाई' आखिर इस देह-मन्दिर में बसने वाला यह कौन है? दार्शनिकों के ब्रह्म का 'नेति' स्वरूप प्रसिद्ध है। आत्मा के विषय में कबीर ने उसी शैली का अनुसरण करते हुए लिखा है – 'ना इहु मानसु ना इहु देउ न राजा, न भिखारी, न ब्राह्मण, न क्षत्रिय तथा ना इहु माई न राहु पूता।' क्योंकि 'ना इहु जीवै न मरता देखा।' इस प्रकार 'ता का मरमु न कोऊ पाई।'[67] लेकिन 'गुर प्रसादि मैं इसरो पाइआ' यह उत्तर यही है कि यह 'राम का अंसु' है। और इसकी स्थिति व सत्ता वैसी है जैस कागद पर मिटै न मसु।[68] पटनेम करने वाले योगी ने 'बसतु अनूपु मोच पाई' इस अनुपम वस्तु के पाने आने पर न देह रहा और न देहधारी जीव। सम्भवत इसी लिए जिज्ञासु जीव ने प्रश्न किया— 'कवनु काजि जगु उपजै बिनसै कहहु मोहि समुझाइआ।'[69] बौद्धिक तर्क की कसौटी पर इसका उत्तर जचे या न, लेकिन कबीर की अनुभूति इस प्रकार हुई—

'जिउ प्रतिबिंबु बिम्ब कउ मिलो है उदक कुम्भु बिगराना।
कहु कबीर ऐसा गुण भ्रमु भागा तउ मनु सुनि समाना।।'[70]

देह के नष्ट होने पर जलवत् जल में अथवा शून्य में समा जाना ही मानव जीवन का लक्ष्य है। सम्भवत इसीलिये 'हम देही कउ सिमरहि देव।'[71] इससे देह का महत्त्व स्पष्ट

66. श्लोक ५५।
67 पृ. ८७१, ४।
68. पृ. ३३३, ७३।
69 पृ ४६४, १।
70 पृ. ४४४, १।
71 पृ ११६१, ३।

है। इस देह में निवास करने वाला 'जीव एक घट सयल सरीरा'[72] जीव तो एक ही है लेकिन उसे धारण करने वाले देह अनन्त हैं। और मानव रूप में आने से पूर्व सृष्टि की रचना प्रक्रिया में जीव ने "थावर जंगम कीट पतंगा। अनिक जनम किए बहु रंगा।"[73] अन्यान्य रूप धारण किये थे। मानव-जीवन के विकास क्रम में यह है भी स्वाभाविक। यह संसार इसी स्थूल से सूक्ष्म के विकास के इतिहास की कहानी है।

वेदानुयायियों ने ब्रह्म को जानने का प्रथम सोपान बताया था 'आत्मानं विद्धि।' उनकी भाषा अधिक दार्शनिक थी और कबीर की उक्तियां हैं अनुभूत्यात्मक। बात उन्होंने भी लगभग वही कही है—'आपु पछाने त एकै जानै।'[74] उसके जानने का साधन अपने आप को पहिचानना है। जिसने अपने को पहिचान लिया, उसे "रोगु न बियापै तीनें ताप।"[75] त्रिविध भय के नाश होने पर जीव अन्तःकरण में ही उसे अनुभव करने लग जाता है। तब सांसारिक सम्पत्ति और सम्बन्धियों को त्याग कर संसार से उदास होकर जीव का 'हंसु इकेला जाई।'[76] क्योंकि संसार से सब सम्बन्ध तो झूठे हैं। यह हुए भी जीव तो कर्म करने में भी स्वतन्त्र नहीं क्योंकि उसके चित्त की बात नहीं होती, होता वही है जो 'हरि करै।'[77] अतः उसे सत्कर्म करने में प्रयत्नशील रहना चाहिए और अपने कार्य को कल पर न छोड़ कर 'कालि करंता अबहि

---

| | |
|---|---|
| 72. पृ ३३०, ३६। | 73. पृ ३२५, १२। |
| 74 पृ ८५, २। | 75 पृ. ३२६, १०। |
| 76. पृ. ११९४, ६। | 77 श्लोक २१६। |

करु मन करता सु इतास।[78] यथाशीघ्र करते हुए जीवन में आगे बढ़ते रहना चाहिए। 'माटी के हम पूतरे'[79] 'कुसामु पर' के है।[80] अतः क्षणिक जीवन का सदुपयोग करने में ही हमारी भलाई है। क्योंकि जीव तो संसार-समुद्र की वह मछली है, जो उससे उत्पन्न होकर-मायालिप्त होने के कारण संसार में रमण करते हुए पुनः गुरु-कृपा से माया-निर्लिप्त हो उसी में जा मिलती है—'जाहि के संग ते बीछुरा ताहि के संग लागु।'[81] यह है जीव की स्थिति।

जीव के स्वरूप निरूपण के बाद आत्मा के आवरण देह के रूप पर विचार करना भी आवश्यक है। जिस प्रकार प्राण-तत्त्व के बिना देह व्यर्थ है, उसी प्रकार देह का महत्त्व तो इतने मात्र से स्पष्ट है, कि उसकी प्राप्ति के लिये 'सुमिरहिं मुनि जन सेव' क्योंकि उसके बिना मोक्ष प्राप्ति नहीं।[82] यह देह क्या है? 'पानी जैसा माटी घोरी इस माटी की पुतरी जोरि।'[83] यह काम भगवान ने किया है। उसने मढ़के से थोड़ी सी मिट्टी उठाई और विश्व के साथ साथ मानव-देह का भी निर्माण कर दिया है।[84] कहीं इसे 'धूरि सकेलि के पुरिया बांधी'[85] कहा है, तो कहीं 'चाम मढ़ी गागरी'[86] बताया है। यह नश्वर देह[87] वस्त्रों की तरह नष्ट

78 श्लोक ११८।
79 श्लोक ६४।
80 क. ३१८, ६६।
81 श्लोक १९९।
82 क. ११२६, ६।
83 क. १३६, ६०।
84 साख २२७।
85 श्लोक १०८।
86 श्लोक ७३।
87 श्लोक ३५।

हो जायेगा क्योंकि 'सो तनु जरि काठ के संगा।'[88] और यह ऐसे जलेगा—'हाड जरे जिउ लाकरी केस जरे जिउ घास।'[89] प्रात कालीन तारों तथा सांप की केंचुली के समान इसे क्षणिक व नश्वर बताया है।[90] इस देह पर गर्व करने वालों को समझाया है कि 'असथि चरम बिसटा के मूंदे दुरगंध ही के मढे'[91] यह तो दुर्गंध-पूर्ण अस्थियों का चर्ममय आवरण है। अतः इस पर गर्व किए बिना ही इसका सदुपयोग करो—क्योंकि 'मानसु जनमु दुलभु है'[92] और यह बार बार नहीं मिलता।

## जीवन

'इस देही कउ सिमरहि देव' देह के माध्यम से मानव जीवन के लिप्सु मनुष्य ही नहीं देवता भी हैं। इतने से ही जीवन का महत्त्व स्पष्ट है और इसकी प्राप्ति आसान भी तो नहीं, लेकिन उसका साधन है गुर सेवा ते भगति कमाई, तब इह मानस देही पाई।'[93] पथ प्रदर्शक गुरु की सेवा कर भक्ति के माध्यम से जिस मानव जीवन को पाया है, उसे व्यर्थ गंवा देना बुद्धिमत्ता नहीं। जग-जीवन को स्वप्न जैसा बताते हुए उसने कहा 'जीवनु सुपन समानं'[94] स्वप्न-तुल्य इसलिए कहा है कि मानव 'कनक कामिनि लागि' इसे नष्ट न कर दे और उसके महत्त्व को समझे, क्योंकि जग जीवनु ऐसा दुतीय नहीं कोई। यह अनुपम है लेकिन अनुपम, होते हुए भी क्षणिक ही

88 ग ३७५, ११।
89 श्लोक २६।
90 श्लोक ४०।
91 ग. ११७४, ४
92 श्लोक ३०।
93 ग. ११५११, १।
94 ग ४८७, २७।

है अतः जीवन भर भटकना उचित नहीं, इसी से उसका उद्देश्य भी स्पष्ट कर दिया है—

> 'भजहु गोबिन्द भूलो मत जाहु।
> मानस जनम का एही लाहु॥'[95]

जीवन को दस दिन और चार दिन का भी न बता कर केवल रात भर का कहा है, क्योंकि प्रातः तो यमराज प्रतीक्षा कर रहा है।[96] जिस जीव की 'रैन गई' (युवावस्था व्यर्थ बीत गई) उसे कहा है कि ध्यान रखना 'मत दिन भी जाइ' नहीं तो वृद्धावस्था में बालों के पक जाने पर जीवन से बेड़ा कैसे पार होगा ?[97] अतः समय और जीवन को बेकार न गवाओ, हीरे की भांति 'अमोलु जनमु है' इसे 'कउड़ी बदलै हारिया रे।'[98] कबीर कल्पना की ऊँची उड़ानें लेने वाले दार्शनिक न थे, अपितु जीवन के यथा-तथ्य अनुभवों को प्रस्तुत करना उन्होंने अपना ध्येय रखा था।

इसीलिए भगवान् से भी उन्होंने कह दिया—'भूखे भगति न कीजै। यह माला अपनी लीजै॥'[99] उसे तो आध्यात्मिक जीवन को भौतिक जीवन का ही सहज विकास बनाना था—दोनों में ऐक्य स्थापित करना था। उसका धर्म केवल उच्च धर्मीय व्यक्तियों के लिए अथवा बौद्धिक चिन्तकों के लिए न था, अपितु मानवीय धरातल पर वह जन-सामान्य के लिए था। इसीलिए देह को बनाए रखने के लिए भगवान् से वह

---

95 ११५६, ६।
96 पृ. ५६९, २।
97 पृ. ५६२, ७।
98. पृ. ३१४, २६।
99 पृ. ६५६, ११।

सब मांगते हुये भी फिझके नहो—

'दुइ सेर मांगउ चूना
पाउ घोउ सगि लूना ।'[100]

इस प्रकार सांसारिक जीवन की स्वाभाविक आवश्यकताओं का अभाव उन्हें भी अखरता था लेकिन उनके प्रति आसक्ति न थी। वे "पद्मपत्रमिवाम्भसा" (पानी में अलिप्त कमल पत्र की तरह) जीवन का महत्त्व देते थे।

सांसारिक सम्बन्ध

हसु इकेला आइ
और संगि न कयु लै जाइ ॥[1]

जीव को जीवन गत सत्य से परिचित करवा दिया, कि यह हंस (आत्मा) तो अकेला ही आवेगा। और इस संसार में—कवनु को पूतु पिता को का को। कौन मरे को देइ सन्तापो ॥ तथा 'कउन को पुत्रु कउन की मारी। इभा उव लेहु सरीर बिचारी।'[3] पिता पुत्र की तो बात ही क्या ? सांसारिक घनिष्ठतम सम्बन्ध नारी के विषय में भी कुछ नहीं कहा जा सकता। यह सम्बन्ध तो केवल कहने मात्र के हैं, इससे कुछ आशा करना व्यर्थ है, क्योंकि "इभा मन जोवन अरु सुत दारा" अवसर आने पर यह सब साथ देने वाले नहो'[2] अतः जीव का इन सब के पालन-पोषण में ही जीवन नहीं बिता देना चाहिए[4]

---

100 पृ ६२६, ११।
1 पृ. ११२४, ६।
2 पृ ३३१, ३१।
3 पृ ३३६ ४६।
4 पृ ७६०, १४।

और न ही इसके मोह में फँसे रहना चाहिए।[5] 'कनिक कामनी महासंदुरि' यह समझ कर जिसने 'रामु बिसारिओ है अभिमानि।'[6] सुन्दर-स्त्री के समक्ष में राम को भुलाने वाले को उसने बताया है, यह सब तो साँप की तरह के भयकर साथी है, अतः इनकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। जिस रावण के इकु लखु पूत सवा लख नाती' थे[7], अवसर पड़ने पर एक का भी पता नहीं लगा। जीव को यदि इतने पर भी विश्वास नहीं तो देख ले कि 'देहुरी लउ बरी संग' तथा मरघट लउ सभु मीतु कुटुम्ब भइओ आग हंसु अकेला।' इतना ही नहीं 'अन्त कूच कोऊ बात न पूछै कउ उह बाहु होई॥'[8] माँ बेचारी दहलीज पर रोती रह गई और भाई उसे उठा कर ले गए। उसने सभी सम्बन्धों और सम्बन्धियों को देख लिया है कोई किसी का नहीं – कोई काहू को नहीं सब देखो ठोक बजाई।'[9] और फिर लौकिकों के मोह में फँसने वाले से तो भगवान् भी प्रम नहीं करते, अतः इन सम्बन्धियों में फँसे रहना कहाँ तक उचित है? अतः सांसारिक कर्तव्यों का पालन करते हुए जीवन पथ एक मात्र सत्य भगवन्नाम को नहीं भूलना चाहिए।

## यानि भ्रमण

सांसारिक सम्बन्धों के मोह में फंसा रहने के कारण जीव इस आवागमन के चक्कर से नहीं छूट पाता। तन जीवन में भगवन्नाम का स्मरण न करने के कारण ही इस

---

5 पृ १२४, १।
6 पृ ११९४, ४।
7 पृ ४८१, ८१।
8 पृ ६७५, २।
9 शब्द ११३।

योनि में आना पड़ा।[10] माया के वश में पड़ा हुआ जीव इस योनि भ्रमण से नहीं निकल पाता।[11] गुरु कृपा से प्राप्त नाम' के सहारे ही वह इस योनि के चक्कर से निकल कर निरंजन की तरह अयोनि' हो सकता है,[12] क्योंकि जीव भी तो 'अपना किया पावै सोई'।[13]

## गुरु

जीवात्मा को परमात्मा की उत्कृष्टतम देन है सद्गुरु। वह गुरु तो उस तक पहुँचाने में सहायक है। गुण और कार्य की दृष्टि से कबीर ही नहीं अपितु सम्पूर्ण मध्यकालीन सन्तों का गुरु सगुण भक्तों के अवतारों से कम महत्वपूर्ण नहीं। इतना होते हुए भी वह है जीव ही, केवल एक उत्कृष्ट कोटि का जीव। अतः उसके स्वरूप, गुण एवं कार्य पर विचार करना अनुपयुक्त न होगा।

कहु कबीर मैं सो गुरु पाइआ। जाका नाउ बिबेकु।।[14]

कबीर ने तो विवेक को ही गुरु बताया है। वास्तव में विवेक शील वह व्यक्ति ही गुरु है, जिसने पाँचों इन्द्रियों तथा मन को वश में कर लिया है तथा ब्रह्म को पहिचान लिया है।[15] पहिचान नहीं लिया, अपितु 'तासु मय माता हो गया है।[16] एक मात्र सच्चे गुरु के अतिरिक्त और कोई उसे पहिचान भी तो नहीं सकता। और 'बिनु सतिगुर बाट न

---

10 पृ ३ ६, ४६।
11 पृ. ५४४, ५।
12. पृ ३३८, ७०।
13 पृ ११६१, १४।
14 पृ. ७९३, ५।
15 पृ. ८७२, १०।
16. पृ ६६६ २।

पाई।'[17] अतः उसे प्राप्त करना आवश्यक है और उसका साधन भी एक ही है भगवान् जब हुए किपाल मिले गुरुदेव[18] भगवान् का कृपालु बनाने के लिए आवश्यक है, कि मनुष्य सत्कर्म करे।[19] उन्हीं सत्कर्मों से वह भगवत्कृपा का पात्र बन सकता है, और उसी से 'शब्द' देने वाले सद्गुरु मिल सकेंगे[20] जिससे संसार के प्रति वैराग्य उत्पन्न होगा।

इस प्रकार गुरु की आज्ञा से शिष्य जागता है, और जाग कर 'गुर परसादी हरि धनु पाइआ।'[21] इस हरि-धन के द्वारा ही गुरु जीव का उद्धार करता है। उद्धार करने का भी एक क्रम विशेष है। सब से पहले गुरु सांसारिक भ्रम का नाश करता है जिसका साधन है जीव की वासनाओं का नाश।[22] गुरु 'शब्द' देता है जिस शब्द की सहायता से जीव इन्द्रियों का वश में करता है[23] और इन इन्द्रियों के साथ ही साथ मन को भी बस में कर लेता है, क्योंकि विकृत मन ही तो देह-गढ़ का राजा है।[24] उसे बस में करने से ही तो 'गुर प्रसादी अंदेश नासा। भगति क प्रेमि इनही है जासा॥'[25] इन भक्तों ने भी भक्ति के महत्त्व को समझा। वह भक्ति जो हृदय में गुरु का शब्द स्थिर करने से उत्पन्न हुई थी। भ्रम से रक्षा करते हुए ऐसे भक्त को गुरु भव-पार पहुँचा देता है। और 'गुरु सेवा से

17 पृ ११६४, १।
18 पृ ८७२ ७।
19 पृ. ११०३, ४।
20 पृ. १०४, ८।
21 पृ. ४४८, १४।
22 पृ.४७१, १०।
23 पृ. ११६, १४।
24 पृ ११९१, १०।
25 पृ. ३४०, ३६।

भगति कमाई।[16] इसीलिए तो सम्पूर्ण सन्त साहित्य में गुरु-सेवा का विशेष महत्त्व है। एक मात्र सत्य-मार्ग का दर्शन कराने वाले गुरु की शरण में जाना चाहिए।[17] और वह भी ऐसा हो, कि 'सो गुरु करहु जि बहुरि न करना।[18] ऐसे गुरु की कृपा से ही तो 'अमोल दासु करि लीनो अपना।[19] उसने जब अपना दास ही बना लिया तब उसमें भी का लगे रहना स्वाभाविक ही है।[20] गुरु शब्द के माध्यम से ही यह तो भगती है, जिससे स्वतः गुरु ने ही हरि के रहस्य को जाना है।[21] इसके लिए कबीरजी गुरु सबदु गुरु कीनु रे। और उससे त्रिसना कामु मद मत्सर काटि काटि कसु दीनु रे।[22] सभी दुर्गुणों का नाश किया। इस प्रकार दुर्गुणों का नाश कर मन को वश में कर उससे अमृत की धार बही जिससे अमर होई सोइ।[23]

ब्रह्म-स्नेही भगत ही गुरु ने सब निराशाओं को आशाओं में बदल दिया क्योंकि जीव एक बार सतगुरु से दीक्षित होकर लौकिक तो क्या पारलौकिक दुःखों से भी बच कर अमर हो जाता है।[24] और फिर माया ऐसे जीव का क्या बिगाड़ सकती है, क्योंकि वह तो स्वयं ही गुरु की मार से 'डरै'।[25] क्योंकि अवसर पाते ही गुरु ने तो तीनि लोक की

16 पृ ११२६, ६।
17 पृ ३२६ ४६।
18 पृ ३२७ १८।
19 पृ ३३३ ४८।
20 पृ ७, १।
21 पृ ६४४, १।
22 पृ ६६८ १।
23 पृ १८७, ७८।
24 पृ ८७२, ६।
25 पृ ८७१, ७।

पियारी' के नाकहु काटि कानहु काटि काटि कूटि कै डारी।[26] इस प्रकार न केवल 'त्रिभुवन डासिनि' से रक्षा की अपितु यम से युद्ध करने की सामर्थ्य भी प्रदान की।[27]

गुरु ने ही केवल सत्गुरु से पहिचान करवा दी अपितु उस ज्योति को अन्तर में ज्योतित भी करवा दिया[28] इस अन्तः ज्योति को उद्भासित करके ही गुरु ने अन्तगति हरिमेटिय इस लिये 'अब मेरा मन कतहु न जाइ'[29] इसलिये गुरु की कृपा से भगवान की प्राप्ति हो गई। 'गुरुमिलत' और उसने ऐसी महारसु अम प्रेम भक्ति दी जिससे संसार सागर से निस्तारियो रे'[30] जिससे आवागमन का चक्र सदा के लिए मिट गया। अतः सतगुरु की सरण में अवश्य आना चाहिए क्योंकि मूल की यह पुड़िया गुरु के मिले बिना 'पलटि गई सब सेह'[31] और कबीर ने भी तो गुरु बनाए थे रामानन्द, सन्तों की वाणी में कथनी और करनी की एकता का यह ज्वलन्त प्रमाण है।

संत

"सत रामु है एको"[32] गुरु गोविन्द रूप[33] होने के कारण जीव कोटि में गुरु का स्थान तो है ही ऊपर लेकिन सन्तों ने तो भगवान् से अभेद स्थापित कर लिया। अतः उसका

26 पृ. ४७६, ४।
27 पृ ११२८, ११।
28 पृ. ४८१ ३१।
29 पृ ११०३, ७।
30 पृ ११२, ५६।
31 श्लोक १०८।
32 पृ. ७६३ ५।
33 पृ ११६०, ४०५।

—५—

# कबीर का साध्य

जीवन का मर्मज्ञ कबीर अद्वैतवादी शंकर की भाँति ज्ञान का वह उपदेश देना नहीं चाहता जिसे सामान्य व्यक्ति न समझ सके और न अपना ही सके। इसी लिये यद्यपि शंकर का अद्वैत बौद्धिकों के मस्तिष्क के लिये पर्याप्त चिन्तन की सामग्री प्रस्तुत कर सका विद्वानों में सम्मानित भी हुआ लेकिन जनता का धर्म कभी न बन सका। उसके विरुद्ध कबीर के सिद्धान्त अनुभूति आधारित होने के कारण तथा क्रियात्मक रूप से अपना प्रादुर्भाव पाने के कारण, जीवन के माध्यम से अपना विकास पाने के कारण, सामान्य जन-मन को प्रभावित करने वाले सिद्ध हुए। इसी का प्रभाव है कि कबीर पंथ के संकुचित सम्प्रदाय के बाहर भी सभी सन्तमत उन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर विकसित एवं प्रसारित हुए हैं। मूलतः यही वह पुरातन मानव धर्म है, जिस का स्थान संसार के सभी धर्मों में अक्षुण्ण बना हुआ है। दृष्टि भेद सिद्धान्त परिणाम में परिवर्तन नहीं लाता, इसी लिये गत हजार वर्षों में कबीर जैसा उग्र होते हुए भी प्रिय व्यक्तित्व भारतीय क्षितिज पर पर देखने को नहीं मिलता। उनका साध्य शंकर के अद्वै

ब्रह्म से प्रारम्भ न होकर भी जीव के ब्रह्म से ऐक्य में ही समाप्त अवश्य होता है। उस ऐक्य साध्य तक पहुँचने के बहुत से साधन भी अपने आप में साध्य प्रतीत होते हैं यही कारण है कि उनका स्वाभाविक विकास क्रम हमें अपनी ओर आकर्षित ही नहीं करता अपितु विशेष रूप से प्रभावित भी करता है। जिन्हों ने कबीर की वाणी में—विचारधारा में सम्बद्धता स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया और अक्खड़ फक्कड़ आदि विशेषणों से सुशोभित किया उन्हें यदि उनके साध्य और साधनों में सम्बद्धता न दिखाई दे तो हम अबोध कबीर को दोषी नहीं ठहरा सकते। उन के साध्य साधन क्रम को सम्बद्ध रूप देने का ही यह एक प्रयत्न है।

उन का कथन है कि सर्व प्रथम जीव को अपने जीवन का उद्देश्य एकमात्र माया से रक्षा ही समझना चाहिये जिस के अन्यान्य साधनों का निर्देश सम्भव है इन साधनों का आश्रय ले जीव जब माया से रक्षित हो जाता है तो वह यम से रक्षित होना चाहता है। वस्तुतः यम से रक्षा ही भवबन्धन का नाश कर भवसागर से पार पहुँचाती है और इस प्रकार आवागमन के चक्र से बच कर जीव मोक्ष पद को प्राप्त करता है। मोक्ष प्राप्ति ही ब्रह्म प्राप्ति होती है। ब्रह्म प्राप्ति का स्वरूप उसने ब्रह्म धाम पुन ब्रह्म रस पान एवं ब्रह्मानुभूति कह कर स्पष्ट किया है यह ब्रह्मानुभूति ही मानव जीवन का एक मात्र साध्य है इसी की विशेषता यही है कि इस के साधन का प्रत्येक स्तर भी अपने आप में साध्य है और वह साधन दैनिक जीवन के वे आचरण हैं जो मानव की भावनाओं को उदात्त बना

कर उन में अन्तर्हित महत्तत्व को उद्‌भासित करने में सहायक होता है।

माया से रक्षा के कबीर ने तीन साधन बताये हैं सर्व प्रथम जीव स्वतः प्रयत्न करता है जो मानव अपने विकारों को भुला कर इन्द्रियों पर विजय पाने के लिये प्रयत्नशील रहता है वही माया से बच सकता है[2]।

इन्द्रियों पर विजय पाने के लिये अभ्यास की आवश्यकता है और यह अभ्यास ही वैराग्य को उत्पन्न करता है। जब तक लौकिक वस्तुओं के प्रति विराग न हो, तब तक माया से रक्षा सम्भव नहीं क्योंकि, बिनु बैराग न छूटसि माइआ'[1] शारीरिक प्रयत्न एवं साधनों का महत्व बताने के बाद वह अन्तमुर्खी प्रवृत्ति का विशेष महत्व समझता है। सिमरि सिमरि हरि हरि मनि गाइए'[3] तभी सब आपत्तियां नष्ट होंगी और ऐसे स्मरण से ही माया दूर भागेगी। लेकिन यह स्मरण 'सतिगुर ते पाइए' तभी स्मरण का महत्व हो सकता है। क्योंकि 'गुरु बिना गत नहीं' इस प्रकार उस ने यह स्पष्ट कर दिया कि गुरु ही नाम से जीव का सम्बन्ध जोड़ सकता है। और उसी से माया भाग सकती है। बाह्याडम्बरी वैरागी को भी उसने सतर्क किया है कि माया से रक्षित होने के लिये बाह्य नहीं आन्तरिक वैराग्य की आवश्यकता है जिस के लिये सतगुरु की शरण में जाना होगा[4] वह माया जिस ने संसार के सम्पूर्ण विद्वानों को वश में कर रखा है कबीर के गुरु की दासी बन गई

1 श्लोक ५ 2. पृ ३०१, ३४।
3 पृ. ३७१, १। 4 पृ. ११०४, ८।

है। और 'जिनहि धरी तिमु धरी'[5] संत के भी पीछे पड़ने वाली यह माया कबीर 'गुरु परसादि भारहि डरें' और सतगुरु को सामने देख यह भाग खड़ी होती है अतः कृपालु गुरुदेव से मिलते ही उस से रक्षा होती है।[6] नारद के संयम को समाप्त कर देने वाली इस माया से कबीर की रक्षा सतगुरु ने ही की थी।[7] इस प्रकार सारे संसार को भरमाने वाली माया से जब तक जीव की रक्षा न हो तब तक वह जीवन में कुछ नहीं कर सकता। सतगुरु के प्रयत्न से जीव जब माया से बच निकलता है तब उसे भयानक यम के दर्शन होते हैं लेकिन शीघ्र ही उसे इस बात का ज्ञान हो जाता है कि 'लपनी जीती कहा कर जमरा'[8] इस से स्पष्ट है कि माया विजेता स्वतः ही यम से रक्षित हो जाता है। योगियों को कबीर ने बताया है कि जब उन्मन मुद्रा में रह कर विमुढ होकर प्राणायाम पर आधिपत्य कर लिया तब वह अनाभ्यास ही जरावस्था एवं जीवन और मृत्यु से भी रहित हो सकता है।[9]

कुटम मोह जु मन कउ कूटै,
मन कूटै तउ जम ते छूटै।'[10]

मन को वश में रखने वाला तथा जिह्वा से रामामृत पान करने वाला व्यक्ति अनायास ही अमर हो जाता है। ऐसे व्यक्ति का 'कहा करै जमरा'।[11] इन सब प्रयत्नों से भी

---

5 पृ ५०६, ४।
6 पृ. ८७१, ५।
7 पृ. ८०७, ६।
8 पृ. ४८०, १६।
9 पृ. ६७१ १०।
10 पृ. ८७१, १०।
11 पृ. ४७६, ५।

जब तक जीव को पूर्ण विश्वास नहीं होता कि यम से उसकी रक्षा हो सकेगी तब वह प्रभु से यही प्रार्थना करता है कि मुझे यम की यातना से बचाओ। [12] उस के लिये आश्रय मिलता है उसे गुरु का। क्योंकि गुरु 'उपदेसि काल सिउ जुरै' [13] वह काल से भी युद्ध कर सकता है संक्षेप में मूल बात इतनी ही है कि

'जउ पै राम राम रति नाहीं।
ते सभि धरम राइ कै बाहीं ॥'[14]

प्रभु का जाप करने वाले कबीर ने अनुभव किया कि 'यम भी मेरा न करै तिरस्कार' क्योंकि 'जिनि-इहु जमूआ सिरजिआ' [15] उस प्रभु का कबीर ने जाप जो कर लिया। माया से बचा हुआ जीव यम से भी रक्षित होकर सब बाधाओं को नाश करने में तल्लीन हो आत्मिक उन्नति के पथ पर अग्रसर हो सकेगा।

भव-बन्धन को नाश कर भव-सागर से पार जाने के लिये सर्व प्रथम आवश्यक है कि मानसिक विकारों को दूर किया जाये दूसरे शब्दों में इन्द्रियों के क्रियाकलापों में सतुलन एवं निग्रह की आवश्यकता है। 'पंच चोर को जानै रीति' [16] इन इन्द्रिय रूपी चोरों को वश में करने का ढंग जो जान जायेगा वही तो भव-पार पहुँचेगा। पाप के भार से दबे हुए इस देह रूपी जर्जर बेड़े को संसार से पार उतारना तब तक सम्भव नहीं है जब तक इसे पुण्यों और सत्कर्मों से हल्का

---

12. पृ ८२६, ५। 13 पृ ११२४, ११।
14 पृ ३२४, ५। 15 श्लोक १४०।
16. पृ ३४४, २

न कर लिया जाये। इस प्रकार सत्कर्मों द्वारा मन को सन्मार्गी बनाना और उस पर विजय पाना ही भव-पार पहुँचने का एकमात्र साधन है। कबीर के 'मनु जीते जगु जीतिया'[17] को ही गुरु नानक ने 'मनि जीतै जगु जीतु'[18] के रूप में स्वीकार किया है। माया से रक्षा हो जाने पर भी यदि मन को वश में न किया तो भी भव-पार नहीं पहुँचा जा सकता, क्योंकि स्वयं के अभिमान और अहंकार के कारण ऋषि-मुनि तक न बच सके। कबीर 'माइआ[19] तजी त किआ भइआ जउ मानु तजिआ नही जाइ' इस प्रकार भव पार पहुँचने के लिये अहं का त्याग नितान्त आवश्यक है। कर्मण्य जीवन का संदेश देने वाले कबीर ने मानव को संकेत किया है कि भव पार पहुँचने के लिये सोते रहने से कुछ न बनेगा, अपितु उसके लिये प्रयत्नशील रहना होगा वही व्यक्ति भवपार करेगा जो कर्मण्य जीवन व्यतीत करेगा।[20] भौतिक ऐश्वर्य के साधन जुटाते हुये तथा शारीरिक उपभोग की सामग्री एकत्रित करते हुये जिस ने ब्रह्म ज्ञान नहीं प्राप्त किया वह भी भव-पार नहीं पहुँच सकता।[21] अतः शारीरिक तुष्टि में ही लिप्त न रह कर गुरु को जान कर उस में अपने मन को स्थिर कर जो व्यक्ति उस का भजन करता है वह भक्त अनायास ही भव-पार पहुँच जाता है।[22] इस प्रकार सांसारिक सम्बन्धों को त्याग जो

---

17 पृ, ११ १ २।

18 पृ ६ ४० १, २८।

19 सलोक १६६।

20 पृ ४७१ १०।

21 पृ ११ ८, ४।

22 पृ ५१३, ४।

हरि दिखावै वह 'जीवन्त अनुभव तोरैं'[23] जीव के बाह्य प्रयत्नों के बाद भव-सागर पार करने के लिए आवश्यक साधन के रूप में नाम और जप का विशेष महत्त्व बताया गया है।

'जिसने हरि नामा चितु लाइ' उसने सखा नहीं अन्ति परम गति पाइ[24] वस्तुतः नाको हृदय से लगाये बिना सांसारिक भ्रम एवं भय दूर ही नहीं होते। और नाम में भी बाह्याडम्बर की अपेक्षा नहीं, इतना भी नहीं नाम भी पकाको और एक हो राम का चाहिये, सरब तिआगो जपु केवल रामु'[25] और जब हृदय में राम हो निवास करले मन गये, तब वह चाहे जाति का जुलाहा ही क्यों न हो, उस के भी 'चूकहि सरब जंजाल'[26]। जिस ने देह की मटकी मन का विलोडन कर शब्द स नाता जोड़ लिया है वही उसरे सौदा वस्तुतः ब्रह्म के महत्त्व को न समझने वाले 'जिनु घटि नामु न उपजै फूटि मरै जनु सोइ'[27] क्योंकि 'राम नाम बिनु सभै बिगूते'[28] क्योंकि उसके नाम के बिना सभी ठगे जो गये। यह सब जानने पर ही कभी ? भगवान् से प्रार्थना करता है कि मेरे अवगुणों का नाश कर मुझे सम्मति दीजिये और मेरा मन अपने में लगाइये। और जब एक बार उसने इस रस का पान कर लिया तो फिर 'राम जपत तनु जरि की न जाइ। राम नाम चितु रहिआ

23 पृ ४८०, १८।
24 पृ० ३३५, ४४।
25 पृ० ३२४, २।
26 श्लोक ८१।
27 पृ ४८८, १।
28 पृ ३३५, ४४।
29 पृ ७४३, ५।

समाई।'³⁰ किसी भी शर्त पर वह नाम को छोड़ने को तैयार नहीं, यद्यपि नाम का रहस्य जाने बिना उसका कोई मूल्य नहीं क्योंकि जिसने 'राम नाम की गति नहीं जानी कैसे उतरसि पारा'³¹ उसके लिए तो बिना मर्म जाने वेदों पुराणों का पठन भी 'खर चन्दन जस भारा' से अधिक कोई मूल्य नहीं रखता, यह तार्किक एवं बौद्धिक कबीर का मत है लेकिन भक्त कबीर ने तो नाम के महत्त्व को समझाते हुए कहा है कि स्वप्न में बर्राते हुए भी किसी के मुख से राम निकल गया तो वह भी इतना पवित्र हो गया कि 'ताके पग की पानही मेरे तन को चाम'³² इसी विचार-धारा की पुष्टि में उन्होंने बताया है कि अजामिल, गज तथा गणिका आदि भी निकृष्ट कर्म करने वाले 'राम नाम लीने'³³ पार उतर गये। इस सब से स्पष्ट है कि सिद्ध साधक मुनि आदि भी सब प्रयत्न करके हार जाते हैं लेकिन एक नाम नाम कल्पतरु ही उन्हें भव पार पहुँचाता है और कबीर को इस बात की प्रसन्नता है कि उन्होंने ऐसे नाम को पहिचान लिया है। जिसको 'नाइमा धनति बुधिमा संगियाव, मनि संतोखु आधारु'³⁴ आधार बनाने पर कबीर के सभी कष्ट दूर हो गए हैं। नाम का महत्त्व न केवल कबीर में ही देखने को मिलता है अपितु सम्पूर्ण सन्त मत इस दृष्टि से उस महान् सन्त का ऋणी है जिसने हजार वर्ष तक भक्त समाज को नामामृत का पान करा कर अमर कर दिया। ऐसे नाम का जप जीव को

30. पृ ३२६, ३३।
31 पृ ११०१, १।
32 श्लोक ६३।
33. पृ ६९२, ४।
34 पृ. १३१४०।

अनुभव कराने में सहायक सिद्ध होता है। नाम का तल्लीन होकर अनवरत स्मरण ही जप है। चौरासी लाख योनियों के चक्र से बचाने के लिए जीव को इसी जप का सहारा लेना पड़ता है इसीलिए क्षणिक देह द्वारा प्राप्त अमूल्य समय का अपव्यय न कर, कबीर ने सन्देश दिया है कि 'भजहु गोविन्द भूलि मत जाहु।'[35] क्योंकि वृद्धावस्था में जब वाणी और देह के अन्य अङ्ग कार्य न करेंगे तब जप करने की सामर्थ्य ही कहां बाकी रह जायेगी। इसका उपयुक्त साधन केवल गुरु की शरण लेना ही है, 'जस भरी गागरी'[36] यह देह तो क्षणिक ही है अतः जब तक सतगुरु न मिलेगा, तब तक मुक्ति का द्वार न खुल सकेगा, क्योंकि वही तो नाम के महत्त्व को बता कर नाम दे सकता है और यह नाम भी उसकी कृपा के बिना प्राप्त नहीं हो सकता। उसकी कृपा प्राप्त करने के लिए मानव को सत्कर्मों का आश्रय लेना होगा। सत्कर्म की प्रेरणा सत्संगति से मिल सकती है और सत्संगति भी तो अच्छे भाग्य के बिना सम्भव नहीं, इस प्रकार वह गुरु ही 'जोति माहि मनि अस्थिर करै'-जिससे इस भवसागर से प्राणी तरै[37] भव-बन्धन का नाश कर जीव भवपार पहुँच जाता है लेकिन भवपार पहुँच के भी उसे भगवत् प्राप्ति करनी है जिसके लिये आवागमन के चक्र से सदा के लिए बचना आवश्यक है। इसी लिये मानव मोक्ष प्राप्ति का इच्छुक बना रहता है—'लोभ मोह सरब बिसरि जाहु' चंचल-मनोवृत्तियों को बन्धन में रख मनोविकारों को भुलाने वाला

35 पृ ११२६, ६।  36 श्लोक ७३।
37 पृ ११६२, २०।

जीव ही तो मोक्ष प्राप्त करता हुआ युग २ तक अमर फल पावहु'[38] गुरु की कृपा से जब वासनाओं की "अनल बुझाइया[39] तभी तो वह जीव मुक्त हो सकता है। वस्तुतः इन्द्रियों को मारना अथवा उन्हें शिथिल करना ही इस मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र साधन है। इन्द्रियों को वश में करने के साथ ही साथ सांसारिक रस का त्याग कर माया से बचना पड़ता है— यौगिक क्रियाओं से जो अनहद किंगुरी बाजी[40] उसे सुन कर माया भाग खड़ी हुई और मन, आनन्द से परिपूर्ण हो गया अभी जीव आवागमन के बंधन को तोड़ अमय पद को प्राप्त कर सकता है। अपने प्रारम्भिक जीवन में कबीर ने युग का विशेष महत्त्व स्वीकार किया योगी के लिये नव द्वारों को रोक कर दशम-द्वार ब्रह्मरन्ध्र को खोल लेने में ही उसके जीवन की सार्थकता है। क्योंकि वहां से ही अमृत धार चुआवई' और उस अमृत रस पान में ही वह अमय-पद को अनुभव करता है।[41] स्वत किये गए प्रयत्नों में हरि सेवा का भी विशेष महत्त्व है, अन्यान्य देवी देवताओं की पूजा को निस्सार बताते हुए तथा तीर्थस्नान आदि बाह्याडम्बरों को व्यर्थ का अभ्यास घोषित करते हुए कबीर ने कहा है कि जो व्यक्ति राम की सेवा करता है वही "जीवत पावहु मोक्ष दुआर'[42] और यह हरि-सेवक ही है जिसका काम भी कुछ बिगाड़ नहीं सकता। अत मोक्ष प्राप्ति के लिये हरि सेवा में ही तल्लीन हो जाना चाहिए।

---

38 क. ११४, ५८।
39 क. ६७१, १०।
40 क. ३३४, ३१।
41 क. ११०३, ३।

महाबली रावण को भी केशों से खींच कर यमराज ने अपना अतिथि बना लिया था, क्योंकि उसने नाम के महत्त्व को नहीं समझा था अस्थिर संसार में रावण की इस दुर्दशा को देखते हुए कबीर कहता है कि नाम को अपना लेना चाहिए'[42] क्योंकि 'राम नाम बिनु मुकति न होइ' यदि कहीं 'गोविन्द लिव लागी तो जनम मरन का भरम गइआ'[43] जीव का आवागमन भगवान् के आदेश से ही होता है। अत उससे बचने के लिए भी उसी की सहायता प्राप्त करना आवश्यक है'[45] और उसके लिए भगवान की सेवा। क्योंकि सेवा से भगवान की कृपा प्राप्त हो सकती है। और इस प्रकार 'जिन कउ किरपा करत है गोबिन्दु ते सतसंगी मिलात'[46] और भगवान की कृपा भी किसी सौभाग्यशाली को ही प्राप्त होती है जिसे यह कृपा प्राप्त हो गई, वह अनायास ही आवागमन के चक्कर से निकल जाता है। इस आवागमन के चक्र से बचने पर ही जीव को ब्रह्म की प्राप्ति होती है अत संसार में उसी का नाम करना चाहिए 'जिह मुए सुखु होइ' यही आनन्द ब्रह्म की प्राप्ति है।[47] तामसिक वृत्तिसांसारिक भ्रम तथा आन्तरिक मलिनता को दूर कर यदि दसों द्वारों एवं पांचों इन्द्रियों से भगवत स्मरण किया जायेगा तभी उसकी प्राप्ति हो सकेगी[48]। इसकी प्राप्ति के लिए असार एवं अस्थिर जगत में पुत्र, स्त्री,

---

42. पृ. ३४३ ७६।
43 पृ ११०४ ६।
44 पृ ११६२, १६।
45 पृ. ११०३, ४।
46. पृ ११२२, ७।
47 सलोक १।
48 पृ. ११५८, ४।

तथा माया के वास्तविक रूप को जानकर इसका त्याग करना होगा। और इस प्रकार संसार के प्रति मुक्त होने के बाद भी अन्तर में 'आत्मा आनन्दु' ब्रह्म मिलन के आनन्द की अनुभूति होगी।[49] यौगिक क्रियाओं का महत्व प्रतिपादित करते हुए कहा है निरन्तर अपलक दृष्टि से ब्रह्म की ओर देखते = नेत्र लाल हो जाते हैं और इसी अभ्यास से ब्रह्म की प्राप्ति होती है तब धीरे धीरे दृश्य व दर्शक एकाकार हो जाते हैं अथवा शरीर की मटकी का मन द्वारा मन्थन करना चाहिए तब अन्तर में ब्रह्मानन्द की अनुभूति हो सकेगी[50]। अन्तर में ध्वनित अनहद नाद की जो वीणा बजेगी, उसका स्वर कभी न टूटेगा और इस स्वर का सुनने वाले का मन आनन्द से परिपूर्ण हो जायेगा, वस्तुतः यही ब्रह्म प्राप्ति की अवस्था है।[51]

ब्रह्म प्राप्ति के लिये वैयक्तिक योगसाधना से अधिक महत्व जन सेवा का है युवावस्था में सशक्त देह से जो व्यक्ति जन सेवा करता है वही पाए निरंजन देव[52] कबीर की भक्ति पर व्यंग करती हुई कोई कहती है कि 'तू व पलोसि कमर बधि पोथी साधुओं को तो कबीर सब कुछ देते हैं लेकिन हमें तो 'बकना' भी नहीं भर पेट मिलता कबीर उत्तर देते हैं—

'पुनि मंगसी लोई ये पीर, हम्हि सु डीपन मांगि सर्पन कबीर।'

अब उनकी सेवा करने में तुम्हें दुःखी नहीं होना

49 श्लोक ६।
50 पृ ४८८, १०।
51 पृ ११४, ४१।
52. पृ ११२६, ३।

वे परिचित थे यही कारण है कि भगवत् प्राप्ति के बिना ही अन्तर्जगत को अभ्यास द्वारा उद्बुद्ध करने पर भी वे नहीं ब्रह्म रस का पान कर सकते थे। और जब एक बार उनकी लौ ब्रह्म से लग गई, तब तो वे रात दिन उसी में लीन हो गये। अपलक दृष्टि से उन्हें हरि के बिना कुछ दिखता ही नहीं, क्योंकि उनके नेत्र उसी के अनुराग से लाल हैं[66]।

लाली मेरे लाल की जित देखो तित लाल
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल।

योगी तो आन्तरिक षट चक्रों में अंडों को देखना है और उसी में ब्रह्म के दर्शन हो जाते हैं जिस से वह सांसारिक भ्रम में नहीं पड़ता, ऐसी अवस्था में बाहर की दसों दिशाओं में दौड़ने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उसके तो 'बाहरी, भीतरी सहज्या प्रकास'[67]।

गुरु द्वारा अनुभूत ज्ञान का प्रकाश ही भक्तों तक फैला है और 'दादु मदमाता' जिसकी मस्ती उतरती ही नहीं ऐसे ब्रह्म रस का पान करने वाले कोई ही बहु सौभाग्य-शाली समझता है लोगों के भ्रम को दूर करता हुआ तथा नाम के महत्त्व को बताता हुआ कबीर कहता है कि इस जुलाहे के सामान्य कार्य में कौन अपना अमूल्य जीवन लाये। इसी लिये हाथों से जुलाहे का कार्य करते हुये भी उस के 'हिरदै राम मुख रामै होई'[68] आन्तरिक दृष्टि से पूर्णत उसने अपने आप को

66 ६५५, ४।
67 पृ ३५५, ७।
68 पृ ३६१, २।
69 पृ ३१२, ८६।

राम में तल्लीन कर रखा है इसी लिए वह प्रेम-रस पान कर पाता है और जिस राम के रहस्य को सनक सनन्दन' महेश और शेष भी न जान सके वह सन्त सगति राम रिदे बसाइ'[70] यह सब गुरु की कृपा से होता है लेकिन गुरु की कृपा भी वहाँ कुछ नहीं कर सकती 'जउ रामु न करह सहाइ' क्योंकि उसकी सहायता के बिना 'जिह जिह बाली पगु धरउ सोइ मुरि मुरि जाइ'[71] वस्तुत: वही सौभाग्यशाली है 'जिह प्रभु जिनि पाइया' और यह सब भगवत्कृपा से ही सम्भव है।[72] कबीर के साध्य की चरम सीढ़ी है भगवान् में तल्लीनता और उसमें पूर्ण एकत्व यह अभिव्यक्त हो जीव की सत्ता को समाप्त कर अद्वैत स्थापित करता है। संसार में सोने वाले जीव को कहा है कि जाग उठो और 'जाके सग ते बीछुरा ताहि के संग लागु'[73] ओले की तरह घुल कर उस रूपी ब्रह्म में मिलना होगा। सांसारिक वासनाओं से उदासीन हो मन को जीत कर आत्मज्ञान प्राप्त करने वाला हो, अन्तरगति हरि भेटिया[74] यही उससे एक्य है ऐसा ऐक्य जहाँ वियोग का प्रश्न ही नहीं उठता। निरन्तर प्रभु का विचार करते हुए घट में ही जब जीव प्रभु से क्रीड़ा करने लगता है तब यम तो उससे दूर भाग जाता है और वह आदि पुरख में ही रहै समाइ'[75] और कबीर तू तू करता तू हुआ मुझ महि रहा न हूँ।

---

70 क ६११ १ — 71 श्लोक ५७।
72 क ६६६, ४ — 73 श्लोक ७७६।
74 क. ११०३, २। — 75 क. ३४३, ५६।

सब माया परजा मिटि गइया, जत देखउ तत तू"[76]

इस प्रकार जीव अपनी सत्ता को खो कर केवल उसी की सत्ता को अनुभव करने लग जाता है।

सक्षेपत कबीर के जीवनोद्देश्य की साधन साध्य प्रक्रिया का विकास हमने देखा। सांसारिक भय से आतुर सांसारिकता का ज्ञान पाते ही सर्व प्रथम माया से अपनी रक्षा की इच्छा करता हुआ जीव उस दिशा में प्रयत्नशील होता है। अपने स्थूल ज्ञान के अनुकूल पहिले वह शारीरिक पुन: साधनात्मक तत्पश्चात् मानसिक एवं धार्मिक प्रयत्न करता है लेकिन शीघ्र ही उसे ज्ञान हो जाता है कि पथ प्रदर्शक गुरु के बिना सब साधन व्यर्थ हैं। और वह गुरु का आश्रय लेता है, परंतु यह अनुभव करने में भी देर नहीं लगती, कि भगवत् कृपा बिना इतना सौभाग्यशाली नहीं बना जा सकता कि त्रिलोक वशकारिणी माया से रक्षा हो सके। माया से रक्षित जीव सांसारिक प्रलोभनों से अवश्य बच निकलता है। लेकिन अपन क्षेत्र के एकाधिपति यम का भय उसे निरन्तर चिन्तित किये रखता है। इस प्रकार उसे यम से रक्षा का प्रयत्न करना पड़ता है। यम से रक्षित हो वह भव-बन्धनों का नाश कर उस पार पहुँचने का प्रयत्न करता है और यही प्रयत्न उसे मोक्ष एवं अभय पद का इच्छुक बना देता है। मोक्ष प्राप्त के बाद आवागमन के चक्र से बच कर जीव भगवत प्राप्ति करना चाहता है, ब्रह्म-दर्शन कर उस का ज्ञान प्राप्त करता है और धीरे २ उस की अनुभूति में अपने आप को खोकर उस से

76. श्लोक २०४

ऐसा ऐक्य सम्बन्ध स्थापित करता है जहाँ दोनों के रूप में कोई भेद नहीं रहता। शंकर के मत से को भी यही पुकार है।

## सहायक शक्तियाँ

मानव जीवन का साध्य ब्रह्म से पूर्ण ऐक्य है। जीव का अपने साध्य से परिचय हो जाने पर उस दिशा में प्रगतिशील हो जाना स्वाभाविक ही है। यद्यपि गत प्रकरण में साधनों पर बहुत सा प्रकाश डल चुका है लेकिन कुछ स्थल अस्पष्ट भी रह गये हैं क्योंकि वहाँ साध्य प्रधान था और साधना उस के अनुकूल। अतः साधनों का स्वतन्त्र अस्तित्व व महत्त्व न स्पष्ट हो सका। यहाँ साधनों का अपना ही विकास क्रम है। वस्तुतः साधन से अधिक उन्हें सहायक शक्ति कहना अधिक उपयुक्त होगा। भगवत् प्राप्ति के दुर्गम मार्ग पर आगे बढ़ने के लिये अन्यान्य शक्तियों का आश्रय लेना पड़ता है, यह शक्तियाँ कभी प्रयत्न साध्य होती हैं और कभी अनायास ही उपलब्ध। उन की अनायास उपलब्धि भी सम्भवतः पूर्व जन्म अर्जित संस्कारों के कारण ही होती है। सत्कर्म, सत्संग तथा सतगुरु कृपा आदि न जाने कितने चौराहों से होकर जीव को भगवत कृपा प्राप्त करने लिये प्रयत्नशील होना पड़ता है लेकिन अनन्य भक्त को तो अनायास ही अपनी तल्लीनता में ही भगवद् कृपा की अनुभूति हो जाती है। अतः इन सब शक्तियों को ब्रह्म प्राप्ति के साध्य में सहायक शक्ति का नाम देना अधिक युक्ति संगत प्रतीत होता है।

### भगवत् कृपा

वस्तुतः भगवत् प्राप्ति का एक मात्र साधन है भगवत्

कृपा। मानव के सब सत्कर्म, योग जप तप, ज्ञान और सम्पूर्ण भक्ति भी यदि जीव को भगवत्कृपा का अधिकारी नहीं बना सकती तो सब व्यर्थ है भगवत् कृपा के लिये आवश्यक है कि कि जीव में ब्रह्म के प्रति जिज्ञासा हो ऐसी जिज्ञासा जो मृत्यु के अनन्तर भी सब भावेन उसी को अपना अधिपति स्वीकार करे, अतः उसकी अनन्त शक्ति के प्रति भयोत्पन्न हो। अप्रत्यक्ष रूप से भय ही उस अनन्तशक्ति के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करता है। श्रद्धा का आधार है विश्वास अपने पर जिस व्यक्ति को भरोसा हो और उस को अनन्त शक्ति पर जिस विश्वास हो उसी में उपयुक्त रूप से श्रद्धा उत्पन्न हो सकती है। सच्ची श्रद्धा एक बार अनन्त शक्ति पर पूर्ण विश्वास पूर्वक की जानी चाहिये फिर तो जीव स्वतः ही पुकार उठता है अब कहु राम भरोसा तेरा[1] जीव को उस पर भरोसा हो गया और यह ज्ञान भी हो गया, कि वही सब के कार्य करता है।

'साहिब होत दयालु, कृपा करै अपुना कारजु संवार।'[2] भगवान दयालु हुआ और भक्त का काम बन गया क्योंकि उसी ने तो कृपा करके ध्रुव और प्रह्लाद का भी उद्धार किया था, लेकिन यह कृपा तभी हो पाती है जब भगवत् विश्वास से भगवत् प्रेम उत्पन्न हो और प्रेम की यह तड़पन घनीभूत होकर अनायास ही भगवान को कृपा कर देने पर लाचार कर देती है जिस पर यह कृपा हुई, उस का तीनों लोकों में आदर होता है, वस्तुत हरि कृपा से ही यह सत्संगति प्राप्त

1 पृ ३२८, ९२।

2 पृ. ३३३, ४०।

होती है जिस से मन भक्ति में स्थिर होता है।[3] इसी से अत्यंत शांति मिलती है। सत्संगति ही क्या जीव का कोई भी कार्य भगवत्कृपा बिना सम्पन्न नहीं होता। और 'जब हुए क्रिपाल मिले गुरुदेव, और यह गुरुदेव ही तो भगवान से मिलाने वाले हैं। इस दृष्टि में साधन साध्य से भी उपयोगी प्रतीत होता है। इस प्रकार जीव का वास्तविक साध्य और साधन भगवत्कृपा की प्राप्ति ही है। इस लिये सब से सशक्त सहायक शक्ति भी भगवत् कृपा को ही माना जा सकता है।

### सद्गुरु

उस के स्वरूप, गुण एवं कार्यों का विवरण अन्यत्र दिया जा चुका है। यहां केवल इतना ही कहना है कि गुरु आडम्बरी न होना चाहिये गुरु अपनाने से पहिले अच्छी तरह पहिचान कर लेनी चाहिये, कि वह सद्गुरु ही हो। ऐसा सद्गुरु जिसने स्वतः ब्रह्म अनुभूत कर लिया है, और इस प्रकार माया निलिप्त वह दूसरों का पथ प्रदर्शन करे। गुरु के गुण उत्कृष्ट उस मानव के गुण कहे जा सकते हैं। और उस के कार्य की महत्ता को अनुभव करके ही कबीर ने उसे गोविन्द से भी पहिले प्रणाम किया था।

> 'गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागों पाय।
> बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविन्द दीयो दिखाए॥

वस्तुतः विश्व में गोविन्द का प्रतिनिधि सद्गुरु को ही माना

---

3 ह १२५१, १
4 ह ८३१, ७।

था सकता है इतना होते हुये भी यह जीव का निरन्तर पथ-प्रदर्शन करता रहता है तथा वैयक्तिक साधना के रूप में नाम देता है।

> राम पदारथु पाइकै कबीरा गाँठि न खोल्हु।
> नही पहणु नहीं पारखू नहीं गाहकु नहीं मोलु॥[5]

यह नाम इतनी अमूल्य वस्तु है कि संसार के बाजार में उसे पहिचानने वाले बहुत थोड़े ही ग्राहक हैं अतः सम्भाल कर रखना चाहिये। कि उनकी 'हरि के नाम बिनु किनि गति पाई'[6] एक मात्र यह नाम ही तो माया और भ्रम से जीव की रक्षा करता है।[7] इसी में तल्लीन होकर जीव परमात्मा का सहवास प्राप्त करता है। क्योंकि जिन्होंने 'हरि का नाम न चेतिया उन्होंने' तो व्यर्थ ही जीवन गवाया और वे नरकहि परहिं'[8] क्योंकि 'राम नाम बिनु मुकति न होई'[9] जिसने राम नाम का रस नहीं पीया, उसकी जिह्वा बेकार है। जिसने उसका नाम नहीं सुना उसके कान जल क्यों न गये।[10] वस्तुतः संसार की सम्पूर्ण सम्पत्ति से भी कहीं अधिक मूल्यवान है, 'इहु धनु मेरे हरि के नाउ।'[11] इसलिये संसार में निर्धन की परिभाषा इस प्रकार है—

---

5 श्लोक २३।
6 पृ. ६५४ १।
7 पृ ४८२, ३५।
8 श्लोक ६५।
9 पृ ६५४ १।
10 श्लोक ४।
11 पृ ११५७, १।

'कही कबीर निर्धन है सोई।
जाके हिरदै नाम न होई॥'[12]

अतः इस नाम के स्वरूप का ज्ञान होना भी कठिन है क्योंकि यदि 'राम नाम की गति नहीं कसे उतरसि पार।'[13] और यह गति क्या है? 'राम कहन महि भेदु है ताथहि एकहु बिचार।'[14] ताते रटन्त का तो कबीर ने विरोध ही किया है क्योंकि यह बाह्याडम्बर मात्र ही है— नाम लेने का रहस्य यही है कि भगवान् के उन गुणों में जीव को अपने हृदय को तल्लीन कर देना चाहिये। ऐसा राम नाम जिन दो अक्षरों से बना है 'ए दुइ अखर न खिसहि'[15] इस नश्वर संसार में यह दो शब्द ही अनश्वर है। इसका महात्म्य तो इतना है कि न केवल नाम लेने वाला मुख ही धन्य होता है अपितु 'ऐहि निमखी बापुरो पवित्रु होइगो थामु'[16] वह कुल भी सार्थक हो जाता है जिसमें भगवान का नाम लेने वाला 'हरि दासु' उत्पन्न हुआ है। नाम रूपी हीरे का व्यापारी ही तो सच्चा व्यापारी है। उसी मनुष्य की देह तो सुन्दर है जिसने नाम को आधार बनाया है क्योंकि 'नाम बिना जैसे कुबज कुरूप'[17] और ऐसी देह स्थिर भी तो नहीं रह सकती क्योंकि 'जितु घटि राम न उपजै फूटि मरै जनु सोइ।' इसी लिये उसने भी तो प्रह्लाद के हठ को दुहराया था।[18]

12 पृ. ११५६, ८।
13 पृ. ११०५, १।
14 श्लोक १६०।
15 श्लोक १५१।
16 श्लोक ११०।
17 पृ. १२८८, ८२।
18 पृ. ११३३, ५५।

'मोकउ कहा पढ़ावसि आल जाल,
मेरी पटीआ लिखि देउ स्रिगोपाल,
नहीं छोड़उ रे बाबा राम नामु।
मेरो अउर पढ़न सिउ नहीं कामु ॥[19]

संसार की सब पढ़ाई और सब काम नाम लेने ही में तो निहित है क्योंकि उसके बिना जीव का जीवन ही बेकार है। यह है नाम का महत्व और स्वरूप। भगवत् प्राप्ति में साधन के रूप में नाम नाम का अनवरत ध्यान ही जप कहलाता है। 'कबीर सूता किया करहि, उठि कि न जपहि मुरारि'[20] सोते हुये जीव को सतर्क किया है कि अब जब जप करने का समय है तब सोने की क्या आवश्यकता ? क्योंकि इस क्षणिक जीवन में थोड़ी देर बाद ही तो 'लाम्बे गोड़ पसारि' सो जाना है। सांसारिक मोह माया में उसका जीव अभी सुलझ भी न पाया था कि कबीर ने पुनः ललकारा।

'हरि का नामु न जपसि गंवारा।
किआ सोचहि बारम्बारा ॥[21]

और यह जप माला फेरना मात्र नहीं है अपितु 'हरि जपि हिरदै माहिं'[22] कहकर उसने भक्त के वास्तविक रूप से परिचित करवा दिया। अनन्त जीवनों तक उसके जप में लीन रहने का संदेश दिया है। जब नाम के आन्तरिक उच्चारण की भी आवश्यकता न रहकर केवल स्मरण की भावना रह जाती है तब नाम सिमरण में परिवर्तित हो जाता है 'कागद जिउ मसि

---

19 पृ ११९४, ४।
20 श्लोक १२८।
21 पृ ६५५, ७।
22. श्लोक १०३।

पाऊँगा'[23] और यम या कालके बेरों से बीच से जायेगा इस लिये सम्पूर्ण सांसारिक सुखों को छोड़ उन सबसे श्रेष्ठ 'हरि सिमरन बिन बाई' नहीं तो 'नाम सिमरु पछुताहिगा मन'[24] सांसारिक विष को छोड़ कर नामामृत का आस्वादन करने की प्रेरणा देते हुए कबीर ने कहा है—

'राम सिमरि राम सिमरि राम सिमरि भाई
राम नाम सिमरे बिनु, बूडते अधिकाई ।[25]

इसके बिना अधिक लोग तो भवसागर में डूबते ही जायेंगे। यह सिमरन ही तो ऐसा बिना तेल का दीया है, जो काम, क्रोध आदि विकारों के सम्पूर्ण अन्धकार को जड़ से उखाड़ फेंकता है। अतः — जिह सिमरनि तेरी गति होइ।
सो सिमरनु रखु कंठ पिरोइ ॥[26]

इसलिये 'जिह सिमरन तेरी आज बनाव है जीव सो सिमरन पु मनबिमू हिउ'[27] इस सिमरन को प्राप्त करने का स्थान भी बता दिया है। यह सिमरनु सतिगुर ते पाइये' और रात दिन उठते बैठते प्रत्येक समय व्यक्ति जो सिमरन करता है वही 'हरि सिमरनु पाइये संजोग' मानव जीवन का उद्देश्य ही भगवत मिलन है और भगवत सिमरन उसका साधन। सिमरन का भी चरम.वस्था तक पहुँच कर जाव की 'अन्तरि लिव लावे'[28] यह भगवान में एसी तल्लीनता है जिसमें व्यक्ति सिमरन तो क्या अपने आप को भी भुला देता है। और तभी वह सम ही सुख पाव[29] क्योंकि उसके सम्पूर्ण शोक तो मिट

23 साख ११७ ।
25 पृ ६६७, ५ ।
28 पृ. ५१, १ ।

24 पृ ११०६ ११ ।
26, 27 पृ. १७१, ६ ।
29 पृ. ३४७ ९३ ।

चुके होते हैं। अतः कबीर अपने अनुभव से जीव को विश्वास दिलाता है कि मेरी ? छोड़ कर केवल 'राम रहहु लिव लाइ'[30] इस प्रकार नाम उसका जप एवं सिमरन तथा उसमें लौ लगाने का महत्व बताया है। वस्तुतः यह लौ (तल्लीनता) ही भगवद् भक्ति है अतः उसका स्वरूप देखना भी आवश्यक है।

भक्ति

कहु कबीर भगति करि पाइआ।
भोले भाइ मिले रघुराइआ॥[31]

भोलेपन से भरी हुई भक्ति से ही भगवान मिल सकते हैं इसी लिये 'चरन कमल जाके रिदै बसहि' वह मनुष्य कभी नहीं डोलता, अपितु 'सर्बस सुखु पावै'[32] इतना ही नहीं, भक्ति इसलिये भी महत्वपूर्ण है क्योंकि बिनु हरि भगति न मुकति न होई[33] और यह भक्ति ही है जो मृग में कस्तूरी वत् जीव में अन्तर्हित ब्रह्म को उद्भासित करती है। इसी कारण तो उस नगर से वह निर्जन स्थान ही भला है "राम भगति जिह ठाइ"[34] क्योंकि भक्ति रहित स्थान तो यम का नगर है यही कारण है कि कबीर को उसे कोसना पड़ा।

'जिह नर राम भगति नहीं साधी।
जनमत कस न मुओ अपराधी॥'[35]

भक्ति न करने वाला अपराधी जन्म पाते ही मर क्यों न गया? भक्ति के बिना प्रत्येक वर बेकार है, अतः उस पर

---

30 पृ. ११६०, १४। 31 पृ. ३२४, ६।
32. पृ ८६७ १०। 33 श्लोक ५४।
34 श्लोक १५१। 35 पृ ३०८, २५।

को आग लग जानी चाहिये 'जिह नाही हरि भाउ'[36] घर का ही क्या कहना ? भक्ति के बिना तो मानव का जीवन ही व्यर्थ है। इसी लिये कबीर ने पहले से योग को भला समझा था लेकिन भक्ति पाकर कह उठा, कि वह उसे छोड़ने का तैयार नहीं 'भलै निंदउ लोगु'[37] अतः भक्ति की युक्ति जाननी आवश्यक है क्योंकि उसके बिना मुक्ति नहीं, और जीव सांसारिक मोह-माया ही में ही फंसा रह जाता है। उसने आडम्बरी साधु ज्ञानगर्वित पण्डित को भव-तारक नहीं माना, अपितु कोई जीव भव-पार नहीं हो सकता जब तक—'भगति नारदी रिदै न आइ'[38] कबीर की नारदी भक्ति शास्त्रीय न होकर अनुभूत है उन्होंने इसका विधिवत् शिक्षण न पाया था अपितु कहीं यह सुना होगा कि नारदी भक्ति ही भवतारक है सम्भवतः इसलिये उसका उल्लेख भी कर दिया। लेकिन कबीर की अनुभूत भक्ति के सभी तत्व शास्त्रीय भक्ति से अभिन्न नहीं। 'मन मारे बिनु भक्ति न होइ'[39] इसलिये बिरले व्यक्ति ही भक्ति के अधिकारी होते हैं। उसकी प्राप्ति का स्थान है 'सतगुरु' और उसके लिए आवश्यक है उसकी कृपा। जयदेव और नामदेव इसके प्रमाण हैं।

गुर प्रसादी जै देव नामा।
भगति के प्रेमि इनहि है जाना।'[40]

इस भक्ति में यह भी आवश्यक है कि भक्त 'अमचित

---

36 रवाक ११। 37 साक ४४।
38. रु १२४, ३। 39 रु ३-६, २८।
40 रु ३३०, ३६।

रहूँ न कतहूँ जाउ'[41] उसकी लगन सर्वेव भगवान में क्यों होनी चाहिये, उसका साधन भी उसने बताया—'काइमा मदर मनमा घम' बना लेना चाहिए [42] तभी यह स्थिरता आ सकेगी। भक्ति की सबसे पहली और कड़ी शर्त है अनन्यता की 'सरब तिआगी भजु केवल रामु'[43] क्योंकि जिस प्रकार कच्ची सरसों से न तेल निकलता है और न खल ही उसी प्रकार अन्य देवी देवताओं का आश्रय लेना व्यर्थ है। अतः एक मात्र दानी ब्रह्म को ही भजना चाहिए। 'अउ आचउ केवल राम, आन देव सिउ नाही काम '[44] इसलिए एक ही ब्रह्म से अपनी लग्न लगा लेनी चाहिए, तथा, 'दूसरे मनहि न आनां ना। [45] सर्व शक्ति मान भगवान का भक्त अन्य देवी देवताओं के घर जाता हुआ शोभा नहीं देता, ऐसे दूसरे में मन लगाने वाले भक्त को धिक्कारते हुए कबीर कहते हैं—

> 'रे जीम निलज लाज तुहि नाही।
> हरि तजि कत काहू के जाही॥
> जाको ठाकुर ऊंचा होई,
> सो जनु पर घर जात न सोही॥'[46]

क्योंकि यह 'भगि अनन ताहि को मन। इस अनन्यता के बाद चाहिये पूर्ण आत्म-समर्पण और उसमें भी 'सीसु काटि करि गोई॥'[47] यह समर्पण उस पिसी हुई मेंहदी

41 पृ. ४८१, २१। 42. पृ ३४४, १।
43. पृ. ३२४, ३। 44. पृ ११६२, २०।
45 पृ ३३६ ७४। 46 पृ ३३०, १८।
47 श्लोक २३६।

जैसा होना चाहिये जो पैर में लगने पर उसे रुला दे, लेकिन पर में उसके छोटे से कण भी चुभ कर उसकी उपस्थिति की सूचना न दे।[48] सारे सांसारिक बन्धनों को त्याग कर नेत्र, काम वाणी तथा हृदय सभी इन्द्रियों से जीव को अपने आपको रसों में समा लेना चाहिए क्योंकि—

'हम तुम बीचु भइया नहीं कोई।
तुमहि सु कन्त नारी हम साईं॥'[49]

और वह 'तुमहि छोड़ि जानत नहीं दूजो'[50] भगवान की पत्नी बनते हुए वह कोई का पति भी हो रहा।[51] उसी पूर्ण आत्म समर्पण का ही परिणाम है कबीर इतना भी नहीं जान पाते कि 'पीव महि जीउ बसे जीव महि बसे कि पीउमा।[52] लेकिन इस आत्म समर्पण के साथ स्नेह के लिये 'चातिक जिउ तन्मत रहै'[53] ऐसी तड़पन की भी आवश्यकता है। इस तड़पन ही में भगवान में अनवरत ध्यान लगा रहना चाहिए और भक्त उसी में 'अलपित रहै न कतहु जाइ'[54] इसलिए तो कबीर कहता है कि 'राम न छोड़ीए, तनु धनु जाइ त जाउ।[55] वह इस नाम को जो उसकी भक्ति का आधार है किसी भी दाम पर छोड़ने को तैयार नहीं। इसी लिये उसने हर एक को सदेश दिया है कि आठ जाम चौसठ घरी तु अभिरलत रहै पीउ।[56]

---

48 साख ६७।
49 प. ४८५, १५।
50 प. ११२५, २।
51 प. १७८ २३।
52 बीज ७३६।
53 साख १५४।
54 प. ४८१, ११।
55 साख १०२।
56 साख ६१५।

ससार के सभी प्राणियों के माध्यम से भक्त भगवान को ही तो देखता है इस प्रकार कबीर की भक्ति के आवश्यक तत्त्व है, अनन्यता, पूर्ण आत्म-समर्पण, अनवरत तड़पन और उसमें ही एकाग्रता। ऐसी प्रेम भक्ति के सहारे ही लौकिक सहारों में लिप्त न होने वाला जीव भव-पार पहुँच सकता है। ध्रुव, प्रह्लाद, जयदेव नाम देव सभी ने तो उसका आश्रय लिया था।[57] इसी लिए तो पूर्व जन्म के सस्कारों के कारण ससार की निन्दा के भय को त्याग कर दृढ़ता पूर्वक स्वयं को उसकी भक्ति में समा लिया 'राम कबीरा रवि रहु अवर तजे सब काम[58] यही है कबीर की अनुभूत भक्ति और उसकी रूप रेखा।

निष्काम कर्मरत जीवन

'तिह बड़भाग बसियो मनि जाके करम प्रधान मथामाथा।[59]

मन में कर्म की प्रधानता पर विचार करने वाला व्यक्ति ही सौभाग्य शाली है—क्योंकि 'करि करता उतरसि पार'[60] काम करने वाला व्यक्ति ही भवसागर से पार उतर सकेगा, इसलिए कर्मक्षेत्र से पराङ्मुख नहीं होना चाहिए। 'पुरजा पुरजा कटि मरै कबहूं न छाडै खेत'[61]। जीवन सघर्ष है। सत पलायन के विरोधी थे अतः उन्होंने दृढ़ता पूर्वक सांसारिक समस्याओं का मुकाबला करने का क्रियात्मक सदेश अपने जीवन के माध्यम से दिया है उनका व्यक्तित्व और जीवन इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है।

---

57 पृ ३३० ३६।
58. श्लोक २३६।
59 पृ ३३६ ७४।
60 पृ. २७२, १०।
61 पृ. ११०५, ६।

संसार समर से न भागने वाले को ही उन्होंने 'सूरउ पारउ नाम'[62] सूर बताया है। कबीर, नामदेव और त्रिलोचन की बातचीत को प्रस्तुत करते हुए इसी भाव को पुष्ट करते हैं। त्रिलोचन के यह कहने पर कि इस 'छीपहु छाइले'[63] में ही नाम देव तू क्यों जीवन गवां रहा है? नामदेव ने उत्तर दिया था—

'नामा कहै त्रिलोचन मुखते रामु समालि,
हाथ पाउ करि कामु समु चीतु निरंजनालि।[64]'

चित्त को भगवान में लगाते हुए भी उसने हाथों से काम नहीं रोका था कबीर ने भी कहा है हम घरि सूत तनहि नित' के बल 'गोबिन्दु रिदै हमारे।'[65] इस प्रकार निष्कर्मण्यता का उन्होंने क्रियात्मक विरोध कर उसे भगवत् प्राप्ति में सहायक बताया है। अतः जीव को कर्म ही नहीं सत्कर्म करने चाहिए नहीं तो कर्मभोग का ब्याज ही बढ़ता जायेगा, 'सुकृतु करि करि लीजै रे मन'[66] सत्कर्मों की पहिचान का साधन भी कबीर ने बता दिया है कि, 'सत की गैल न छोड़िये।'[67] जीव ने तो केवल उस मार्ग पर चलना है इसी लिए तो 'जिह मारगि पंडित गए पाछे परी बहीर,'[68] उनके मार्ग पर ही तो समाज की भीड़ चल पड़ी, अतः जीव को सत्कर्म करते हुए जीवन संघर्ष में जूझते रहना चाहिए।

सत्कर्मों के साथ २ सद्गुणों का भी महत्त्व बताया है। यहाँ दुष्कर्म और दुर्गुण अपरोधक शक्ति के रूप में जीव को

---

62. पृ. १४२, १४।
63. श्लोक २७२।
64. श्लो० २११।
65. पृ. ४८२, २६।
66. पृ. ४०१ १६।
67. श्लोक १२०।
68. श्लोक १६५।

उसके उद्देश्य तक पहुँचने में रुकावट डालते हैं वहां सत्कर्म और सद्गुण मानव को ब्रह्मोन्मुख करने में सहायक सिद्ध होते हैं। फलवान वृक्षों की तरह परोपकारी व दानी होना जहां जीव को नम्र और उदार बनाता है वहां उन्नत भी कर देता है।[69] जहां ज्ञान में धर्म है वहां झूठ में पाप है तथा 'जहां लोभु तह कालु है जहां छिमा तह आपि'। क्षमाधारी को तो भगवत्तुल्य ही बताया है। इस प्रकार भक्ति के साथ २ सद्गुण और सत्कर्म परक निष्काम कर्मण्य जीवन भी जीव को उसके साध्य तक पहुँचाने में सहायक सिद्ध होता है।

## ज्ञान

ज्ञान के आडम्बरों में पड़े हुए पण्डे-पण्डितों बाम्हन ब्राह्मणों तथा मुल्ला मौलवियों का कबीर ने विरोध अवश्य किया है लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि अपढ़ कबीर ने ज्ञान के महत्व को स्वीकार न किया हो उनने स्पष्ट ही कहा है 'जह ज्ञानु तह धरमु है'[70] वस्तुतः विवेक एवं विचार के बिना पुस्तकी ज्ञान का उन्होंने विरोध किया। लेकिन विवेक का तो उन्होंने इतना महत्व स्वीकार किया है कि उसे अपना गुरु तक कहने में नहीं चूके[71]। वास्तविक ज्ञान तो वही है जो अन्तःकरण में ब्रह्म को उदभासित कर उसकी पहिचान करवा दे[72]। भक्ति मार्गी कबीर का यद्यपि विशिष्ठ साधन नाम है

69 श्लोक २३० ।
70 श्लोक १५५ ।
71 श्लोक १५५ ।
72. पृ ७६३, ५ ।
73 पृ. ३४०, ८ ।

लेकिन इस बात को भुला नहीं सके कि बिना विचार किये नाम का भी कोई महत्व नहीं, अन्यथा वह 'धर अम्बर भारा' ही बना रह जायेगा।[74] अन्तर ज्ञान ही वह अमूल्य धन है जिसे पाकर जीव वास्तव में धनी बनता है[75] क्योंकि उसका 'मिसना मन माहमा भ्रमु चूका।'[76] इस प्रकार—

'जीवत पितु निरंजनु लाइया।
कहु कबीर सो अनभउ पाइया॥'[77]

वस्तुत कबीर का ज्ञान पुस्तकी ज्ञान न होकर स्वत उद्भूत अन्तःकरण का ज्ञान था। ज्ञान के आश्रय के बिना कबीर की भक्ति सशक्त नहीं प्रचलित, आडम्बर पूर्ण भक्ति की प्रतिक्रिया में यह उसने अनुभव किया था। इसी लिये जहाँ उसने अपनी भक्ति को निष्काम कर्मण्य जीवन से प्रवहमान व संचरण शील दैनिक जीवन का अंग बताया था। वहाँ स्थायी भी किया था। उसे ज्ञान के सम्बल से सशक्त एवं भक्ति की प्रधानता होते हुए भी उसमें ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों का समुचित समन्वय कर वह त्रिवेणी प्रवाहित की जो युग-युगान्तर तक जीवन का अजस्र स्रोत बहाये हुए है। अतः कबीर के साध्य प्राप्ति में सहायक ज्ञान का महत्व भुलाया नहीं जा सकता, क्योंकि ज्ञान ही तो वह सूर्य है जो भक्ति के पथ को आलोकित करता है।

### योग

'धरबर एकु अनन्त डार साखा पुहप पत्र रस भरीआ।
इहु अमित की बाड़ी है रे तिनि हरि पूरै करीआ॥

---

74 पृ. ११०३, १। 75 पृ ९९, २।
76 पृ. ११०३, १। 77 पृ ३२८, २०।

बानी जानी रे राजा राम की कहानी,
अन्तरिजोति राम परगासा गुर मुखि विरलै जानी।[78]

सम्भवतः कबीर अपने प्रारम्भिक जीवन में योगी रहे थे। अथवा उनका योगियों से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध था, कि वे न केवल यौगिक शब्दावली अपितु यौगिक क्रियाओं से भी बहुतायत में परिचित थे। उनकी वाणी इस बात का प्रमाण है। 'युज' (जोड़ना) से योग शब्द का अर्थ ही जोड़ना है, आत्मा को परमात्मा से। इसके अन्यान्य साधन हैं शारीरिक क्रियाओं द्वारा बलात् इन्द्रियों एवं मन को वश में करना ही हठ योग का उद्देश्य होता है क्योंकि 'मनु जाते जगु जीतिआ।[79] इतना ही नहीं उस पवित्र मन के पीछे तो स्वतः भगवान भी घूमने लगते हैं।[80] और ऐसे ही पवित्र मन वाला 'जीव तै सीउ' जीव से शिव में परिणत हो जाता है।[81] सूक्ष्म शरीर को उसने समझ लिया है तभी उसे "राजा राम की कहानी,[82] का पता लग गया और यह भी ज्ञात हो गया कि यह शरीर ऐसा है 'जा महि ज्योति करै परगास'[83] इस नाटक से उसने संसार का ज्ञान प्राप्त कर लिया ब्रह्मरन्ध्र में कुण्डलिनी की चाबी द्वारा उसने ब्रह्मदर्शन करने का प्रयत्न किया है।[84] नव द्वारों की वृत्तियों को रोकने से ही यह सम्भव है। कोई विरला ही ऐसा है जो दशम द्वार तक पहुँच सके और अनहद नाद को श्रवण कर

---

78. पृ ६७६, ६।
79 पृ. ११०३, २।
80 श्लोक ५५।
81 पृ ४८४, १३।
82 पृ ६७०, ६।
83 पृ ११६२, १९।
84. पृ ३४१, २४।

ब्रह्म रसामृत पान करता हुआ उसी के आनन्द में तल्लीन हो जाये।[85] परचक में अनुभूत ब्रह्म के कारण ही उसकी द्विविधा का नाश हो जाता है इस प्रकार जब 'उगवै सूर' तथा लगातार अहिनिसि बाजै अनहद तूर' तब जीव ने 'देखिया तिहु लोक का पीउ'।[86] जिस योग का आडम्बर समाज को विचलित कर सकता था उसका कबीर ने दृढ विरोध किया। लेकिन वास्तविक योग देह की पुष्टि और मन की एकाग्रता के माध्यम से ब्रह्म प्राप्ति में सहायक सिद्ध हो सकता है। इस बात को उसने स्वीकार किया है। इन्द्रियों और मन को नियन्त्रित किये बिना अनन्य और अनवरतभक्ति हो भी कैसे सकती है। अतः साध्य प्राप्ति में कबीर को योग का विशेष सहयोग स्वीकार है। हां यह स्मरण रहे कि उसने कष्टदायिनी दुरुह शारीरिक साधनाओं का विरोध कर सहज-योग का महत्व स्थापित किया है। सहज' से तात्पर्य हा उस योग का है जो अपने आप में ही दुःसाध्य साध्य न बन कर दैनिक जीवन का क्रियात्मक अंग बन सके जिसके लिये निवृत्ति मार्गी एवं नियममय जीवन व्यतीत करना आवश्यक नहीं अपितु प्रवृत्ति मार्गी होते हुए भी जो सहज ही जीव को उसके साध्य की ओर अग्रसर करे इस सहज में लीन होने पर ही जीव का भ्रम नष्ट होता है तथा कामपूर्ण होता है ,[87] इस सहज के कारण ही मरन जीवन की सका भारी ।[88] परिणाम स्वरूप चोरो ?

---

85 पृ ११४, २१।
86 पृ. ३४४, १२।
८८ पृ १३५१, १।
86 पृ ३५५, १३।
87 पृ ११६४, ६।

उसका 'मनुवा सहजि समाना ।'[89] इस प्रकार सहज योग साध्य प्राप्ति का उपयुक्त साधन है।

पवित्र मन

मन जीते जगु जीतिमा'[90] मन का महत्व तो इसी से स्पष्ट है। अतः साध्य तक पहुँचने में पवित्र मन का विशेष सहयोग है। मन को पवित्र करने के लिए उसे नियन्त्रण में लाना आवश्यक है अतः

'कुटम सोह को मन को कुटै।
मन कूटे तउ जम ते छूटै।'[91]

पवित्र मन न केवल यम से रक्षा करवाता है अपितु भगवत्-प्राप्ति भी करवाता है। और जब 'मनु निमलु भइमा, तो पाछे लागो हरि फिरै कहत कबीर कबीर ।।[92] पवित्र मन के पीछे तो भगवान स्वतः चक्कर काटता फिरता है क्योंकि पवित्र मन तो स्वतः ही भगवत्स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

सत्संगति

मन को पवित्र रखने के लिए सत्संगति आवश्यक है, 'सत संगति रामु रिदै बसाई।'[93] न केवल इतना, उसी से तो 'मुकति पदारथु पाइए'[94] और जीव का आवागमन के चक्र से छुटकारा होता है यह सत्संगति ही पहिले माया से रक्षा करती

89 पृ. ११३५, ४।
90. पृ. ११०२, २।
91 पृ. ८७२, १०।
92. श्लोक ५५।
94. पृ ६११, १।
94. श्लोक २३१।

पुन—

'सति संगति मिली विवेक बुधि होई,
पारसु परसि लोहा कंचनु सोई।'[95]

उसके बिना तो यह संसार जलती हुई भट्टी है जिसमें झुलसता हुआ जीव न कभी शान्ति ही पा सकता है और न ही भवपार पहुँच सकता है।[96] जिस प्रकार कोई भी नदी गंगा में मिल कर गंगा ही बन जाती है उसी प्रकार—

'सन्तन संगि कबीरा बिगरश्यो,
सो कबीर रामै होइ निबरश्यो।'[97]

सन्त समागम से कबीर तो राम ही हो गया था। भर्तृहरि ने भी तो कहा है "सत्संगति कथय किं न करोति पुंसाम्' जीव का कौन सा कार्य है जो सत्संगति से सिद्ध नहीं होता। अतः सत्संगति के महत्व को समझते हुए कबीर ने कहा है।[98]

'कबीर एक घड़ी, आधी घड़ी, आधी हूँ ते आध,
भगतन सेती गोसटे जो कीनी सो लाभ।'[99]

क्षण भर की सत्संगति भी जीवन को सफल बना देती है। इसी से तो ब्रह्ममय वातावरण बनता है सद्गुरु की प्राप्ति होती है—नाम का आधार मिलता है सत्कर्म तथा सद्गुरुओं के माध्यम से जीवन का समुचित विकास होता है और जीव ब्रह्म की ओर बढ़ता रहता है।

---

95 पृ. ५८०, २०।
96. पृ. ११०५, १०।
97 पृ. ११५८, ५।
98. श्लोक २३१।
99. पृ. १३१५, ५०।

## हरि सेवा

'छूटनु हरि की सेव' । सब सम्बन्धों से छूटने का उत्कृष्ट साधन है हरि की सेवा । क्योंकि 'जो सुखु प्रभु गोबिन्द की सेवा, सो सुखु राजि न लहिए'।[100] सम्भवतः इसी लिए—

'इस देहि कउ सिमरहि देव ।
सो देहि भजु हरि की सेव ॥'[101]

देवता भी तो हरि की सेवा करने के लिये ही इस देह की आकांक्षा करते हैं । वस्तुतः 'मानस जनम का एहि लाहु'[102] मानव जीवन का यही तो उद्देश्य है । इस प्रकार मानव देह यह जीवन हरि की सेवा के माध्यम से भगवत्प्राप्ति में विशेष सहायक है । जीव का आत्म विश्वास अपने अन्तःकरण में ब्रह्मानुभूति तथा उसके अनुकूल आचरण ऐसी प्रबल आन्तरिक शक्ति है जो अनायास ही जीव को ब्रह्मोन्मुख बना देती है । अपनी आत्मा की पुकार का अनुकरण और कुछ नहीं, केवल ब्रह्म की आज्ञा व इच्छा का ही पालन मात्र है । क्योंकि आत्मा की पुकार के विरुद्ध कुछ भी करना भगवान से दूर जाना है परिणाम स्वरूप अपनी आत्मा की पुकार का जीवन में क्रियात्मक अनुकरण भगवत् प्राप्ति में मानव का सहायक बनता है ।

इस सब के लिए भगवत्कृपा की आवश्यकता है, क्योंकि भगवत्प्राप्ति के सम्पूर्ण साधनों में यह महत्वपूर्ण प्रथम तथा अन्तिम साधन है भगवत्कृपा के शेष सब साधन तो औपचारिक

---

100 ३३६, ४८ । 101 ग ११४६, ६ ।

मात्र हैं, यदि वे भगवत्कृपा प्राप्त करने में सहायक नहीं हो सकते, तो इनका कोई मूल्य नहीं। साधनों से प्राणतत्त्व का संचार करने वाली यह भगवत्कृपा है लेकिन यह किसी सौभाग्य शाली को प्राप्त होती है इसी लिए सम्प्रदाय ग्रन्थों पर कहा है—

'मारिग पर सो मिले जो बड़ भागी रे।'[102]

और जिस पर भगवत्कृपा होती है वही तो सौभाग्य शाली है।

संक्षेपतः पूर्व जन्म के अर्जित पुण्यों के कारण जीव एस सस्कारों को प्राप्त करता है जिससे वह सत्कर्म और सद्गुण परक वातावरण में पनपना प्रारम्भ होता है। ऐसे ही समय सत्संगति से उसे कहीं सद्गुरु मिल जाता है जो नाम देकर जीव को अनन्य व अनवरत भक्ति में लगा देता है। जीवन भर उसका पथ प्रदर्शन करता हुआ उसे निष्काम कर्मण्य जीवन तथा सत्कर्म करने को प्रेरणा देता रहता है इसी से उसका अन्तर्मन पवित्र हो आत्मा की पुकार का अनुसरण करता रहता है। ऐसा जीव ही कभी सौभाग्य से भगवत्कृपा को प्राप्त करता है। और भगवत्कृपा के होते ही जीव का व्यक्तित्व परमानन्द में तिरोहित हो जाता है। यह है भक्त के जीवन मग के विशिष्ठ पग चिह्न।



102. श. ३३८, ६६।

—६—

# अवरोधक शक्तियाँ

मानव जीवन संघर्ष है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसका सीमाक्षेत्र। साध्य का ज्ञान होने पर साधक साधनों की सहायता से चल पड़ता है लेकिन कंटकाकीर्ण मार्ग के दुर्गम्य प्रदेशों को भूल कर, भव सागर की उत्ताल तरंगों के थपेड़ों का अनुमान न कर। सम्भवतः इसी लिए कि मानव सुख, प्रसन्नता और उन्नति चाहता है, अतः उसकी कल्पनाएं सुखद आशाओं के सुन्दर प्रासादों का ही निर्माण कर पाती हैं, असाध्य दुर्गम वन-खण्डों की नहीं। समुद्राभिमुखी प्रत्येक पहाड़ी झरने को न जाने कितनी चट्टानों को बहा देना पड़ता है न जाने कितनी पर्वत शृंखलाओं से टक्कर लेनी पड़ती है तब भी असंख्य झरनों को रेगिस्तान आत्मसात् कर लेता है और उपयुक्त सम्बल पाने वाले कुछ थोड़ से ही समुद्र तक पहुँच पाते हैं—यही मानव की कहानी है। ठीक ऐसा ही उसके जीवन का भी मग है। भगवान् ने लीला रचाई है, उसमें खेलना जो है। इसीलिये अपने और जीव में एक खाई रच दी है जिसे भरने में भी जीव प्रयत्नशील रहता है। लेकिन वह ऐसा होने देना नहीं चाहता, क्योंकि इस से खेल समाप्त हो जायेगा, इसीलिये उसने संसार की प्रबलतम शक्ति 'माया' को भेजा उस माया ने जीव और प्राणी मात्र की तो बिसात ही क्या—

'ओह खसमु है माइमा,'
मौर 'पूति बापु खिलाइया' ।

उसने न केवल 'ब्रह्मा बिसनु महादेउ छलिया'[1] अपितु देवताओं पर भी अपना प्रभाव जमाया, देवताओं की तो बात ही क्या उनके भी अधिपति इन्द्र को गौतम पत्नी अहिल्या पर मोहित होते हुए देखो और इस से भी बढ़ कर स्वयं ब्रह्मा को भी अपनी पुत्री के पीछे भागते देखा, यह सारा ससार तो उसी की छ्‌म विद्या का प्रसार मात्र है और 'इह सपनी' ऐसी है कि 'खसमु मरै तउ न रोवै' क्योंकि 'उस रलबारा पअरो होवै' वह तो ऐसी सुहागनी जगत पिआरी है जो 'समले जिआ जन्त की नारी है ।'[3] सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को मोहित करने वाली वह 'मननी मुपटा अहिओ,' समर भी उस नलिनी की तरह आकर्षक है जिसके बीच में तो कर्ह है पर बाह्य सौन्दर्य से उसने तोते को मोहित कर लिया है । सर्पिणी, डाकिनी, चोरटी आदि न जाने उसके कितने विकृत रूप बुद्धिमानों ने देखे, सुने और अनुभव किए लेकिन फिर भी उसके बंधन से न बच सके 'माइआ के बंधे, देखन है तो 'जल महि मीन, दीपक पतंग, काम कुंचर पसी मृग, और सौम्य यति सभी को देखिये, इतना ही नहीं 'सागर इन्द्र बरवेव' भी तो माइआ के छेरे ही तो हैं[5] योगियों के यहां माया जीव को खास बन गई है ।[6] ज्ञानी, ध्यानियों को अपने प्रभाव

1 पृ ११६४, ३ ।
2 पृ ४८०, ११ ।
3 पृ ८७१, ६ ।
4 पृ ३३५, ४० ।
5 पृ ११६० ११ ।
6 पृ ४८२, २५ ।

के अन्धकार में ऐसा लपेटा है कि उन्हें सत्य का कभी भ्रम ही नहीं होने दिया ।[7] और वह इन्द्रिय सुख को ही वास्तविक सुख समझ बैठे हैं । आके नैन लखन सुनि पाके पावो सुन्दरि कादया लेकिन 'एक न चाकसि माइया ।'[8] इसलिये जीव को मदक किया है कि, उसमें लिप्त रह कर 'क्यों मिथ्या जन्म गवाइया'[9] यह माया ही है जो जीव को नाम रहित करके 'कनिक कामिनि लागि' बना देती है ।[9] यह कंचन और कामिनी ही तो संसार के सम्पूर्ण, आकर्षण, अवगुण तथा दुष्कर्मों के उत्पादक हैं । इन्हीं से काम क्रोध और लोभ उत्पन्न होता है, जिनके भ्रम में फंस कर मानव अपना अमूल्य जीवन गंवा बैठता है ।[10] कौनसा ऐसा अवगुण या दुष्कर्म है जो माया नहीं करवा देती ? कौनसा ऐसा प्राणी व स्थान है जो इससे प्रभावित नहीं, प्राणी मात्र के गले में उसने 'तौक' और पैरों में ऐसी बेड़ी डाल रक्खी है कि वह योनि भ्रमण के चक्र से कभी निकल ही नहीं पाता । और जगत भिखारी के चक्र में पड़े हुए को भगवत्प्रेम की सुध ही कहां । इसीलिये मायावी कभी सुखी नहीं रह पाता ।[11] भव पार पहुंचने के लिये इस माया से छूटना आवश्यक है, लेकिन 'बिनु बैराग न छूटसि माया'[illegible] पथ प्रदर्शक गुरु की कृपा से जीव उसके जाल से बच सकता है, अनहद सुनने वाले योगियों के डर से वह दूर भागने लगी,[13] संतों ने माया मटकी को मथ कर उसका सार ही निकाल डाला[illegible] और स्वत

7 पृ ६१, १ ।
8 पृ. ५८२, ६७ ।
9 [illegible] ४ ।
10 पृ ११०६, ११ ।
11 पृ. ३६५, ८ ।
12 पृ ९९६, १४ ।
13 पृ ३३४, ४३ ।
14 पृ. [illegible] १८ ।

मानन्दु ,खाप्रम' तथा समार बैराग्य 'आदि पीए' । इस प्रकार सारे ससार को घुगाने वाली 'चारटी माइमा' से एक कबीर न मुस'[15] जिसन माइमा' के भ्रम,को ही समाप्त कर दिया है, बल्कि गुरु के डर का मार बपारी माया न कबीर को ही प्रणाम किया ।[16]

माया के प्रमुख पम्त्रे है कंचन और कामिनी । कंचन सका बाँध कर देन वाली वह घने गाँठ है जिसके लोभ में जीव ससार का प्रत्येक कुकर्म करने को तैयार रहता है। उससे उत्पन्न अहंकार मानव को दानव बनाने में थोड़ा भी विलम्ब नहीं करता लेकिन यह न भूलना चाहिए कि रावण की सुवर्ण लंका को जलने में कितनी देर लगी थी ।[17] यही नहीं संसार की सम्पूर्ण सम्पत्ति कितनी अस्थिर[18] एवं नश्वर है और जाते समय खाली हाथ 'हम इकेला जाइ ।'[19] और 'मूरखु रावनु किया के गइया' क्योंकि यहाँ तो प्राणी मात्र ने ही 'नागि आवनु नागे जाना' है ।[19] सांसारिक सम्बन्धों की सत्यता में कामिनी मोह का वर्णन किया गया है, जीव तो क्या यहां देव का विचलित कर देने वाली यह स्त्री का कामिनी रूप ही है। सिद्ध सतों न और विशेषत कबीर ने भर पेट कोसा है क्योंकि यही सब दुर्गुणों की खान है। और प्रेम पै ता द्वा से नहीं किया जा सकता। कामिनी प्रेमी परमेश्वर भी नहीं

10 साख २० ।      16 ग्र. ३२१, ४ ।
17 ग्र. ४८२ २१ ।      18 ग्र ४०३, १ ।
19 ग्र. ११२४, ६ ।

हो सकता।' क्योंकि भगवान को तो अनन्य भक्त की आवश्यकता है न।

'नारि नसावै तीन गुन, जो नर पासै होए।
भक्ति, मुक्ति निज ध्यान में, पैठ सके नहीं कोए।

और मानव जीवन में शेष रह ही क्या जाता है। माया, कंचन और कामिनी के आकर्षण से मन को विकृत कर देती है। विकृत मन इन्द्रियों पर नियन्त्रण न रख उन्हें विपथ गामी बनाता है इसका प्रधान आधार विषय और वासना ही है। अत: उनका विश्लेषण ही इस विषय पर समुचित प्रकाश डाल सकेगा।

विषय—

'बिखिया अजहु सुरति सुख आसा।'[20]

जीव सांसारिक प्राणी है और उसे सांसारिक विषयों में ही सुख की आशा है तो कैसे होइ है राजा राम निवास' सतर्क जीव भी अनायास ही वासनाओं का शिकार हो जाता है। वासनायें मन को ऐसा पापी बनाती जाती है कि वह—

'हरि का सिमरनु छाडि कै अहोई राखै नारि,
तो भमहि होइके औतर भार सहै मनधारि।'[21]

'इतना ही नहीं 'भव सम रसु तव लग नहीं नेहु'[22] विषय रस के हेति 'हुए मनपतंग म फैसा। इसी लिये तो कबीर ने माया और भक्ति-दोनों पत्नियों को एक साथ घर में रखने का दुस्साहस न किया था—और भक्ति को अपनाने से पहिले

20 पृ ११०, ३६। 21. श्लोक । १०८
22. पृ १२८, २१।

माया की विमोचिनि की थी ।[23] देह काम निरपेक्ष कबीर का अनुभूत सत्य कितना महान है हमें यह न भूल जाना चाहिये । जीव जो जोबन वासना का त्याग करके 'जो मनै मन्त्र को रंक'[24] मृत्यु से डरने वाले जीव को कबीर ने घोर सतर्क किया—

कहत कबीर छोड़ि विषिया रस इतु संगति निहचउ मरणा ।[25]

## इन्द्रियाँ—

विषयों के उपभोग का माध्यम हैं, इन्द्रियाँ । जब तक इन पर नियन्त्रण न हो, तब तक जीव सत्कर्म में नहीं लग सकता—

पंच पहरुआ दर महि रहते तिन्ह का नहीं पतिआरा ।[26]

इनका विश्वास हो भी कैसे जब वासना-लिप्त देह इनका आश्रय स्थान है, अतः ये पाँच इन्द्रियाँ शरीर के पहरेदार न होकर माया के पाँच दूतों का कार्य करती हैं ।[27] भूपवत् चमन ये ही देह की संचालिका शक्ति हैं, अतः इन्हें वश में करना आवश्यक है, अन्यथा विषवत् यह देह में फँस कर जीव का ही नाश कर देंगी ।[28] इन 'पंच चोर' को पकड़ कर जब नाम-जप में लगा दिया जायेगा तभी तो मुक्ति की प्राप्ति हो सकेगी ।[29] अथवा जीव जब इनसे प्रभावित न होगा, तभी

---

23. पृ ५८३, ११ ।
24. श्लोक १६६ ।
25. पृ ८१, १ ।
26. पृ ३३८, ६१ ।
27. पृ ३३३, ४० ।
28. पृ १४४, ४ ।
29. पृ ३४८, ३ । Ram Krishna 'Passions can't be eradicated, these can be sublimated or educated.'

उसका आध्यात्मिक जागरण होगा और तिन्ह ते नाहि परम पद दूरे।[30]

मन

'मनु जीते जगु जीतिया।'[31]

मध्यकालीन सन्तों में से क्रान्तिदृष्टा कबीर ने ऐसा अनुभूत सूत्र जन-समाज को दिया, जिसे सम्भवतः जनता तो न अपना सकी लेकिन जिस किसी भी बिरले ने अपनाया, वही महान् हो गया। बादशाह के मोदीखाने में आटा तोलने वाले ने 'मनि जीतै जगु जीति'[32] रूप में इसे अपनाया और वह गुरु नानक बन गया। कितना महान है यह सत्य। यह मन है कैसा? 'इस मन का रूप न रेखिया, जाई और रूप रेखा हो भी कैसे सकती है? जब कि 'इस मन कउ नहीं आवन जाना।'[33] इसीलिए तो सनक, सनन्दन भी इसे न पाइ सके।

यह मन अति चंचल है, दसों दिशाओं में उड़ने वाला पक्षी सदृश्य[34] और बिरछ बसेरो वाला पंछी को[35] घर पाछे जहाँ भूला जाये। इसीलिए तो हाथी की तरह मस्त मन का संकुरा मुकति दुआरा में प्रवेश कैसे हो यह चोर की भांति संचरत एवं संबसे भी है। संचरत होते हुए भी यह चोरी करता है और 'वह गृह को लूट ले जाता है।[36] यह मन ही जब संसार में लिप्त रहता है

30. अष्ट० ११।
31. पृ ११ ३, ७।
32. पृ ६४०१, २८।
33. पृ ३२, ५६।
34. श्लोक ८६।
35. पृ ३३६ ६४।
36. श्लोक ५८।
37. पृ ११६३, ८।

तो वह दिन दूर नहीं अब एसे व्यक्ति के द्वार पर 'अमरौवा दमामा बाई।'[38] इसलिए मन की चंचलता को दूर कर उसमें स्थिरता लानी पड़ेगी। और एक मन को मारने से ही सब दुर्गुण अपने आप नष्ट हो जायेंगे। 'मारै एक तजि जाइ घनै' में योगमँवरी स्तंभों को संकेत किया है कि मिर को न मूड़ के कमूपित मन को मूड़ो (पवित्र करो) और योगियों को भी कहा है 'मन न छाड़ जउ मन कैहे छूट' क्योंकि शारीरिक साधनों से नहीं अपितु मन को नियन्त्रण में कर उसमें विकार छुड़ाने से ही बोध यम से छूटे[40] और विषयों से बचने पर ही तो 'राम नाम बिन नाही'[41] क्योंकि 'मन मारे बिनु भगति न होइ'[42] और भक्ति बिना मुक्ति कहां।[43] किताब पढ़ने वाले को नहीं मन से लड़ने वाले को ही असली मुल्ला बताया है।[44] और इस प्रकार मन से लड़ कर जिसने 'मन साध सिधि होइ' पवोति जिसने मन को नियन्त्रित कर लिया उसी ने सब सिद्धियां प्राप्त कर ली हैं और यह नित्य मन ही तो 'इहुमन सकति इहु मनु सीउ' शिव और शक्ति के समान सम्पन्न है और जिसने एसे मन को प्राप्त कर लिया 'तउ तीनि लोक की बात कहै'[45] यह देख कर ही कबीर ने इस सब का निचोड़ अपनी वाणी में प्रकट या या 'मन जीता जगु जीतिया'।[46]

38 श्लोक २२७।
39 पृ ३४१, २१।
40 पृ ८४७ १०।
41 पृ ३३२ ४६।
42 पृ ३२१, ८८।
43 पृ ११२६, ११।
44 पृ ३४७ ३२।
45 पृ ३४२, ३१।
46 पृ ११०३, २।

### अहंकार

'मेरी मेरी करते जनमु गइआ'[47] अहंकार की कहानी
इतनी ही है लेकिन इतने में भी कुछ बाकी नहीं रह
ता और सारा जीवन समाप्त हो जाता है। जिसे 'कुल की
मानि' का घमण्ड है उसे शीघ्र ही यमराज मसानि ले
ता है।[48] जिसे सुन्दर देह का अभिमान है उसे कबीर ने
ाम लपेटे हाड़' कह कर सतर्क किया है।[49] और 'कनक
ामिनी महासुन्दरी पेखि पेखि सचु मानि'[50] उस प्रकार जो
हंकार का शिकार हुआ है उसे सुवर्ण लंका के मालिक
वण की दुरवस्था से परिचित करवाया है यह अहंकार ही है
विकसित प्रतिभा को भी विकृत प्रतिभा में परिणत कर
ता है और शीघ्र ही मानव को विनाश के गर्त में पहुँचा देता
, वस्तुतः इस अहंकार की उत्पादिका माया ही है जिसने
ह भ्रम उत्पन्न कर दिया है[51] और उस भ्रम के कारण
मानव गर्व करता है 'रावन हू ते अधिक छत्रपति खिन में
गये बिलात।'[52] इसीलिए कबीर ने कहा है 'कहा नर
रबसि थोरी बात। इस मद से ही 'मानव, झूठा विकार
हामद' आदि सम्पूर्ण दुर्गुणों के साथ साथ विवेक एवं ज्ञान
नष्ट हो जाता है क्योंकि 'मद बुधि मन मारियो रे' इस
या के भ्रम में जिसका मेरी मेरी करते 'जनमु गइओ वह

---

7 पृ ४७८, १२ । 48. श्लोक १६६ ।
9 श्लोक १० । 50 पृ ११७४ ५१
1 पृ ८४७, ३ । 52. पृ १०४१, १४
3 पृ ४७१, १४ ।

अज्ञानी अहंकारी जीव छिनमहि मिलसि जाइ।'[54] अभिमानी को ऊँचे खड़े उस बाँस की तरह बताया, जो पार्श्ववर्ती चन्दन की सुगन्ध को ग्रहण नहीं करता।[55] इसके लिये उपयुक्त साधन भी बताया है। "काम करत बर्ध अहमेव"[56] और न केवल 'सुचि मन का अभिमान' पथ के ऐसे रोड़े बनो, जो पथिक को चुभे, अपितु इतने नम्र भी बनो 'जिउ धरनि महि सेह,'[57] और आत्म समर्पण के लिए तो इस अहं का नितान्त विसर्जन आवश्यक है क्योंकि—

मैं नाहिं कछु नाहिं न मोरा,
तनु धनु सबु रघु पाविन्द तेरा।[58]

इस अहं के नष्ट होने पर ही भगवत् कृपा होगी और तभी जीव 'त्वमसु पश्यामि' सकेगा[59] और उससे मिलने का प्रयत्न करेगा।

## दुर्गुण

'मोके भाइ मिले रघुराइया'

इसलिये—

परहरु लोभ अरु लोका चारु।
परहरु कामु, क्रोधु अहं कारु।[1]

चंचल मन इन दुर्गुणों के माध्यम से ही तो जीव को भरमाता है और उन्हें ब्रह्मज्ञान से दूर अज्ञान में फँसाये रखता

54 पृ ३३६, ६०। 55 श्लोक १२।
56 पृ ३८४, ६। 57 श्लोक १४७।
58. पृ ३३६, ६०। 59 पृ ४८०, ७।
1 पृ ३२४, ६।

है। काम क्रोध, लोभ, मोह आदि विकार ही तो मानव को पथ भ्रष्ट कर देते हैं। और इसलिये शीघ्र ही उन्हें काल का ग्रास बनना पड़ता है। 'पाप करता मरि गइया' और सत्कर्मों के बिना दुष्कर्मों से जीवन का भार बढ़ता जाता है और यह पुलन्दा इतना भारी हो जाता है कि मानव भवसागर के पार नहीं पहुँच पाता। इस प्रकार दुष्कर्म एवं दुर्गुण ही मानव के जीवन के लिये ग्राह के समान है।

दुस्संगति

'मूरख सिर बोले सलमारि।

क्योंकि— 'बोलत बोलत बढ़ विकारा'

इसलिए भलाई इसी में है, कि—"मिलै असन्तु मसटि करि रहिए' विद्वानों ने सम्भवतः इसीलिए कहा है कि मूर्खों अथवा दुष्ट जनों से न मित्रता रखे और न बैर ही। क्योंकि दोनों ही अवस्थाओं में अनिष्ट की सम्भावना है। 'कासनु काठे परसिए तउ कछु लागै दागु'[62] और इतना ही नहीं उसके पास रहकर के तो जीव की अवस्था बेर के पास रहने वाले केले जैसी होगी, 'उह झूलै उह चीरिए'[63] ठीक उसी प्रकार दुस्संगति को चाहने वाले सत्संगति से ऐसे ही दूर भागते हैं जैसे 'माखि चन्दन पर हरै, जह बिगन्ध तह जाइ'।[64] उस प्रकार दुस्संगति वह सद्वातावरण ही नहीं बनने देती जिसमें रह कर जीव प्रह्मोन्मुख हो सके।

---

60 श्लोक २२१। 61 पृ ८७०, १।
62 श्लोक १११। 63 श्लोक ८८।
64 श्लोक ६८।

## पाखण्डाडम्बर

"माथे तिलकु हथि माला बाना।
लोगन रामु खिलौना जाना॥"[63]

कबीर ने तत्कालीन समाज के धार्मिक लोगों में पोथी धारि पण्डे, पुराण पाठी पंडित, माला पहिने ब्राह्मण तिलक धारी ब्राह्मण, वेद-पाठी विद्वान, धूल रमाये जोगी गेरुए पहिने सन्यासी भेषी साधु, बोलेबाज तांत्रिक, कपटी पुजारी, बांग देते मुल्ला, कुरान की आयतें पढ़ते मौलवी, मुर्गी मारते काजी तथा हज से भी लौट कर पाप करते हाजी को देखा था। उसकी प्रदीप्त अन्त चक्षुओं ने समाज के रूप को ठीक से पहिचाना था, इसी कारण निडर होकर के उन्होंने आत्मा की पुकार को सत्य की ऐसी कसौटी बनाया, जिस पर समाज के इन सब धर्म के ठेकेदारों को परखा जा सके। उसने हाथ में डाक्टर का वह नश्तर लिया जिससे वह देह के सड़े गले भाग को काटता गया और स्वयं ही मरहम पट्टी भी करता गया, ताकि समाज की देह नष्ट न होकर स्वस्थ व हृष्ट पुष्ट हो जावे। इसी लिये उसने जिस पण्डे को फटकारा उसे अपनी ओर अनुरक्त भी किया, जिस पंडित को फटकारा उसे नया पाठ भी पढ़ाया जिस ब्राह्मण को दूर दुराया उसे निर्मल भी कर दिया जिस वेद पाठी को लताड़ा उसे ऊपर भी उठाया, जिस पुजारी को धिक्कारा उसे धन्य भी कर दिया जिस योगी को दुतकारा उसे पुचकारा भी, जिस तीर्थ यात्री को पुचकारा उसे दुलराया भी, जिस मुल्ला को डांटा उसे नया नूर भी दिखाया, जिस

---

63 ग. ११८८, ६।

मौलवी को डपटा उसे नया सबक भी सिखाया, जिस काजी को पकड़ा उसकी अक्ल दुरुस्त कर दी, जिस हाजी को मिलता उसको सीधा रास्ता दिखाया इस प्रकार पथ भ्रष्ट जन-साधारण को सुपथ पर चलाया और समाज द्वारा ठुकराये हरिजनों को गले लगाया। इन कार्यों से ही कबीरा कबीर (महान) हो गया अत उसके व्यक्तित्व के निर्माण में जहां इन बाह्याचारों के विरोध का विशेष महत्व है वहां देश की तत्कालीन, धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक विषमताओं से टक्कर लेकर सदम्य उत्साह एवं साहस से उसका विरोध करते हुए नवीन समाज के निर्माण का श्रेय भी उसी को प्राप्त है। उसने बहती हवा के सम्मुख सीना करके न केवल उसके वेग को ही सहा था अपितु उस दिशा में आगे भी बढ़ा था। महापुरुष का यही लक्षण है कि वह स्वतः परिस्थितियों के अनुकूल न ढल कर परिस्थितियों को अपने अनुकूल ढालता चले, और कबीर ने यही किया। नीचे लिखी पंक्तियों में इसी का विवरण मिलेगा।

पूजा

'जो पाथर को कहते देव।
ताकि बिरथा होवै सेव॥'[1]

इसीलिए उसने पत्थर पूजा का विरोध किया है क्योंकि उससे तत्कालीन समाज विकृत हो रहा था अंधविश्वास है ही ऐसा। अत: उसने कहा है—

'तोरउ न पाती पूजउ न देवा।'[2]

---

1 पृ. ११६०, १२। 2. पृ ११८८, ६।

क्योंकि उसने स्वतः भी तो 'तीस बरस कबहु देव न पूजा'[3] और पूजता भी क्यों ? 'पाखान गढ़ि कैं मूरति कीन्ही दे कै छाती पाव ।[4] फिर भी उसके प्रति श्रद्धा कैसे बाकी रह जाती, और यदि 'जे एह मूरति साची है तौ गढ़नहारे खाउ'[5] और उस ने कहा था 'न पायह बोलैं न कछु देइ'[6] इसलिये उसकी पूजा बेकार है। पूजा के लिये 'भूली मालनी' पत्ते तोड़ती है, उसे कहा है कि पत्ते तो चेतन पौध के अंग है, पर जिसकी पूजा के लिये तुम इन्हें तोड़ रही हो 'सो पाहन निरजीउ ।[7] वह ब्रह्म जिसकी पूजा के लिये यह सब आडम्बर है सर्वत्र ही विद्यमान और 'रूप रंग रेख' रहित है। लेकिन संसार न तो 'पाहन परमेसुर कीया' और उसी को 'पूजै सभु संसार ।[8] यदि परमेश्वर वहीं न मिले तो पुजारियों के लिये उसे प्राप्त करना भी बड़ा आसान है और धनवानों के यहां तो भगवानों के ही ढेर लग जावें, क्योंकि वह तो 'ठाकुर पूजहि मोलि लें,[9] कितना सस्ता है भगवान्। लेकिन कबीर का भगवान् तो इससे भी सस्ता है। उसके लिये तो—

'ब्रह्म पाती बिसनु डारी फूल संकर देउ ।
तीनि देव प्रतखि तोरहि करहि किसकी सेउ ॥'[10]

है जीव संसार के सभी देव तो सर्वत्र विद्यमान हैं मात्र उनको पहिचानने के लिये प्रज्ञाचक्षु अपेक्षित है। इस प्रकार

---

3 पृ ४७१, १२।
4, 5. पृ ४७९, १४।
6. पृ ११६०, १२।
7 पृ ४७९, १४।
8. श्लोक १३६।
9 श्लोक १३२।
10 ४७९, १४।

-पत्थर पूजा, तथा मूर्ति पूजा के साथ २ बहुदेवोपासना का भी विरोध करते हुए जीव को सतर्क किया है कि 'तू क्यों व्यर्थ ही देवी देवा पूजहि डोलहि।'[11] लेकिन भ्रमण शील जीव का 'मन बउरा रे', जो, 'पूजन करु बहु देव'[12] अन्यान्य तीर्थ स्थानों में उसे घुमाये लिये जाता है। जब कबीर पर कोई विश्वास नहीं करता तब वह पूजने वालों को कह देता है 'पत पूजि पूजि हिन्दू मूए,'[13] लेकिन उसके हाथ कुछ न लगा। इसलिये, उसने तो एक मात्र, 'निरंकार निरबानी' ब्रह्म की उपासना का संदेश दिया।[14] क्योंकि—

जो हरि सा हीरा छाड़ि के, करहि आन की आस।
ते नर दोजक जाहिंगे सति भाखै रविदास॥'[15]

स्नान

संधिया प्रात इस्नानु कराहीं।
जिउ भए दादुर पानी माहीं॥[16]

सामान्य स्नान की तो बात ही छोड़ें यदि 'अंतरि मैलु' है तब तो मेढक के समान, चाहे 'तीरथ नावै तिसु बैकुण्ठ न जाना'[17] न केवल 'बहु तीरथ भ्रमना'[18] व्यर्थ है अपितु जो 'कूड़ तीरथ जाहिं'[19] तथा 'गंगा तीर जो घर करहिं' और 'पीवहिं निर्मल नीर',[20] वह सब बाह्याचार भी बैकुण्ठ नहीं

11 पृ ११२, ४५।
12 पृ. १६५, ८०।
13 पृ. ६५४ १।
14 पृ. ११५०, ५।
15 श्लोक २४९।
16. पृ. १२४, ५।
17 पृ ४८४, ३७।
18. पृ. ४७६, ५।
19 श्लोक १३५।
20 श्लोक ५४।

पहुँचा सकते। तीर्थ यात्रा, तीर्थ निवास, तीर्थ स्नान और तीर्थ मरण यदि बकार न होते, तो काशी निवासी पण्डितों का विरोध करने के लिये कबीर काशा छोड़ कर मगहर क्यों जाते। उन्होंने यह सन्देश ही नहीं दिया अपितु 'सगल जनमु शिवपुरी' गवाने वाला जुलाहा सचमुच ही मरती बार 'मगहरि उठि धाइआ' था[21]। यदि अब भी कबीर के धर्म को मानव धर्म न कहा जाये तो क्या कहा जाये उन्होंने स्वतः कहा है—

> बहुत बरस तपु कीआ काशी।
> मरनु भइया मगहर की वासी।
> काशी मगहर सम बीचारी।
> ओछी भगति कैसे उतरसि पारी।[22]

यह काशी और मगहर नहीं है जो मनुष्य को स्वर्ग अथवा-अधम योनि देते हैं यह तो भक्ति ही है। यदि भगति ओछी होगी, तो यह भव-पार नहीं पहुँचा सकती।

व्रत

मांस, मदली खाने वाले यदि व्रत रख कर बैकुण्ठ जाना चाहें तो वह बैकुण्ठ न जाकर 'रसातल जाहिं' क्योंकि सत्कर्म किये बिना दिखावटी जप, तप के साथ 'किया धरमु किया इस्लामु'[23] इसका भी कोई मूल्य नहीं। ब्राह्मणों के चौबीस उपवास और काजियों के महीने भर के रोजे क्या उन्हें भव पार पहुँचा सकते हैं?[24] कभी भी नहीं उन्होंने न केवल व्रत,

21 क. १२१, १४।
22. क. १२६ १४।
23 क. ११७, ६१।
24 क. ११५८, २।

उपवास व रोजे का विरोध किया है अपितु मृतक पिण्ड और श्राद्ध की तो सविस्तार दुर्गति बताते हुए कहा है—

"जीवत पितर न माने कोउ,
मूए सराध कराहि।"[25]

तथा कुछ भोजन जिसे उनके लिए अलग से डाल देते हैं उसे 'कउवा कूकर खाही' इतना ही नहीं अपने मिट्टी के देवी देवता के सम्मुख 'जोड़ देही' जीवों की भी बलि चढ़ा देते हैं।[26] इस प्रकार उन्होंने दृढ़ शब्दों में व्रत, उपवास रोजा, श्राद्ध, मृतक पिण्ड तथा बलि चढ़ाने का विरोध किया है और मानव को आन्तरिक दृष्टि से सदाचारी होने का सन्देश दिया है।

'अपनी काठ की जिया दिखावहि लोई' न केवल काठ की माला का अपितु माथ तिलकु'[27] का भी उन्होंने विरोध किया है क्योंकि—

'डण्डा, मुंदरा खिंथा आधारी।
भ्रम के भाइ भवै भेख धारी।[28]

धूम रमाये हुए साधुओं के छापा, तिलक त्रिपुण्ड, कण्ठमाला, डण्डा मुद्रा, शृंगी सभी बाह्य भेषों का उन्होंने विरोध किया है। क्योंकि 'गृह तजि बन खण्ड जाइए' ऐसे पापी साधुओं ने 'मनहु विकार न छोड़ा, क्योंकि उनका 'मनु मंदा' है।[29] इसी लिये तो चाहे उन्होंने जटा भस्म लेपन किया

---

25 पृ ३३१, ४५। | 26 पृ ३३२, ४५।
27 श्लोक ७२। | 28 पृ ११८८, ६।
29 पृ ८२६, ८। | 30 ८२५, १।

और 'गुफा महि बासु किया'[31] लेकिन यह सब बेकार हैं। आडम्बरी होने के कारण उन्होंने अपना नाम 'भ्रम के पट मिलाइया।'[32] क्योंकि जब तक 'भगति नारदी रिद न आई तब तक यह सब पहरावा और बाह्याचरण व्यर्थ है। कबीर के तिलमिला देने वाले व्यंग जब लौकिक जीवन से ग्रहण किये गये हैं तब बहुत प्रभावोत्पादक सिद्ध हुए हैं।

मूंड मुंडाए जो सिधि पाई।
मुकति भेड न गइआ काई।।[33]

और नंगे रहने से ही यदि मोक्ष मिलता है तो सभी पशु उसके अवश्य अधिकारी हैं।

शारीरिक कष्ट साध्य साधनाओं से अथवा तन्त्र मन्त्र से मन को वश में करने वालों का भी उन्होंने विरोध किया है। सिमरन का महत्व बताते हुए उन्होंने कहा 'तिस के आगे तन्तु न मन्तु'[34] इस प्रकार सिर मुंडा कर अथवा जटा रख कर, नंगे रह कर या अधिक वस्त्र पहन कर, भस्म लगा कर या धूनि रमाकर, छापा छाप कर या तिलक धारण कर, कण्ठमाला पहिन कर या माला फेर कर, जप-तप से शरीर को जला कर या कठोर कर, कन्द-मूल खा कर अथवा उपवास कर बिन्दु रक्षा कर, या आबद्ध कर, गुफा को घर बना कर या आश्रय स्थल समझ कर मृगचर्मों को साथी मान कर अथवा पशुमात्र समझ कर मन को ही आवास बनाकर या साधना स्थल समझ कर जिन साधुओं और योगियों ने योग प्राप्ति

---

31 पृ ११०३ ३।
32 पृ ६५४, ३।
33 पृ १०४, ४।
34 पृ ६०१ ६।

का प्रयत्न किया था । उन्हें कबीर ने सतर्क किया 'भावे लाम्बे केस कर, भावे घररि मुडाइ ।'[35] इतना ही नहीं

कबीर मनु मूडिया नहीं, केस मुडाए काइं ।
जा किछु किया सा मन किया, मूडा मुडु धमाय ।[36]

और ऐसे ही बाह्याडम्बरियों के क्रिया कलापों को देख कर कबीर की आत्मा को जो ठेस पहुँची थी । उसी का कथन इस पद में देखने को मिलता है,

बासन माँजि धराबहि ऊपरि काठि धोइ जलावहि ।[37]

इतनी पवित्रता में भोजन बनाने वाले सारे मानस खावहि मनुष्य को ही खा जाते हैं । यह देख कर ही कबीर ने उन्हें 'हरि के सन्त न कह कर 'बनारसी के ठग' कहा है ।[38] इसके अतिरिक्त उसने बनारस में 'मूड पलोसि कमर बधि पोथी'[39] ऐसे ब्राह्मण भी देखे थे । संक्षेपतः उसने आडम्बर का ऐसा विरोध किया था जिससे कोई आडम्बरी न बच सका, जहां 'बुत पूजि पूजि हिन्दू मूए' वहां 'तुरक मुए सिर नाई' 'जटा धारि धारि जोगी मूए तथा 'बेद पढ़े पढ़ि पण्डित मूए' लेकिन 'तेरी गति हमहि न पाई'[40] । मूल बात यही है कि जब तक 'चितिमा त होइ उदास,' जीव ने अपना मन निर्मल नहीं कर लिया तब तक इन आचारों और आडम्बरों का कोई मूल्य नहीं, उसने अपने युग के पंचमकार सेवी शाक्त को भी सतर्क किया था क्योंकि भक्ति के बिना 'साकत नारी

35 श्लोक २५ ।
36 श्लोक १०१ ।
37 पृ ४७५, ७ ।
38 पृ ४७५, २ ।
39 पृ ८७१, ६ ।
40 पृ ६२४, १

कामरी धोए होइ न संतु [41] कबीर ने केवल हिन्दुओं के आडम्बरों का ही विरोध किया हो ऐसी बात नहीं निर्भीक उसने मुसलमानों को आड़े हाथों लिया था। क्योंकि उनका सन्देश किसी मत सम्प्रदाय, धर्म या जाति सीमाओं में बद्ध न था। वह तो मानवमात्र के लिए दिव्य सन्देश था।

कबीर मुला मुनारे किया चढहि साई न बहरा होइ।
जा कारनि तू बांग देहि दिल ही भीतरि जोइ ॥[42]

बांग देने वाले मुल्ला को चेताया कि उसका खुदा न तो बहरा है और न दूर ही है। नमाज पढ़ने जाते हुए किया उजु पाकु कीआ मुहु धोइआ [43] बांग को सुन कर 'वजु' (नमाज से पहिले हाथ मुंह आदि धोना) करके तुम अपने को पवित्र समझते हो लेकिन जब तक दिल महि कपटु निवाज गुजारै [44] तब तक बहिश्त नहीं पहुँच सकते इस बात को न भूलो। तसबीह (माला) तथा इबादत आराधना, के चक्कर में पड़ हुए मौलवी को भी धिक्कारा है क्योंकि यहां तो पवित्र भावनाओं का ही महत्व है और फिर जाओ महरूम जाना' [45] वह कर रमजान के महीने में 'रोजा रखने का भी विरोध किया है क्योंकि वह 'रोजा धर मनावै अलहु सुआदति जीअ संघारै' [46] क्योंकि उसके 'दिल महि कपटु है [47], इसी लिये तो रोजा रखने वाला वह स्वाद के लिए जीव का संहार कर

41 श्लोक १०० ।
42 श्लोक १८४ ।
43 पृ. ११५०, ४ ।
44 पृ. ११५८, ४
45 पृ. १३७६, २ ।
46 पृ. ४८३ =६ ।
47 पृ. १३५०, ४ ।

लेता है। खुदा को सब व्यापक समझने वाले मुल्ला से कबीर ने यह भी पूछा है, 'किन मुरगी मारें' लेकिन इस 'हलालु' का उसके पास कोई उत्तर नहीं। पश्चिम अल्लह मुकामा समझ कर हज पर जाने वाले काजी को भी उसने बताया है कि, 'दिल महि खोजि—एहि ठउर मुकामा'[48] और इस लिए उसने घोषणा की है—

मनु करि मका किबला करि देही।
बोलन हारु परम गुरु ऐही॥
कहु रे मुल्ला बांग निवाज।
एक मसीति दसै दरवाज॥[49]

मन को मक्का बना कर देह को पश्चिम दिशा बनाओ और तब देह रूपी मस्जिद के दसों द्वारों से बांग देकर नमाज पढ़ो। तब कहीं उसे दिल में पा सकोगे। उसने कुरान पढ़ने को भी तब तक बेकार बताया है जब तक उसकी, 'दिल महि खबरि न होइ,'[50]। इस प्रकार जहां कबीर ने नमाज करवाने वाले मुल्ला को बांग वजु नमाज तथा मस्जिद की सच्चाई से परिचित करवाया वहां तथाकथित धार्मिक मौलवी को कुरान की आयतों पर विचार करने के लिए प्रेरित भी किया। इतना ही नहीं धर्माधिकारी शेख को तसबीह और इबादत का महत्व समझाते हुए हज के असली रूप के दर्शन भी करवाये। रोजे के बाद कुरबानी से पेट भरने वाले मुर्गी मार न्यायाधिकारी काजी को न्याय का सबक

---

48 पृ ११४१, १।
49 पृ ११४८, ४।
50 पृ. ४८३ २१।

सिखाया तथा अन्त में हज से लौटते हुए मियाँ हाजी को सच्ची हज का सच्ची हज का राह दिखाया। इस प्रकार हिन्दु और मुसलमान का भेद भाव मिटाते हुए दोनों के खोखले बाह्याचारों आडम्बरों से उन्हें परिचित करवाया। सामाजिक क्षेत्र में उन्होंने छूआछात का विरोध कर मानवीय धरातल पर एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया था। धम जाति, लिंग और देश के आधार पर मानवीय विभाजन को अनुचित बताया था। क्योंकि—

गरभवास महि कुलु नहीं जाती।
ब्रह्म बिन्दु से सभु उतपाती॥[51]

न सामने खड़े मुल्ला को फटकारते हुए उसने पूछा था कि यदि खुदा ने तुझे तुर्क बनाया है तो तू क्यों बलपूर्वक सुन्नत करता है[52]। यह काम भी वह स्वतः ही करेगा मुल्ला की झुकी हुई गर्दन देख कर कबीर न चूकते भी—

सुनति कीए तुरकु जे होइगा
अउरत का किआ करीए।
अरध सरीरी नारि न छोडै,
ताते हिन्दु रहीए॥[53]

मुल्ला तो बेचारा आधा हिन्दु बन गया लेकिन इतने में ब्राह्मण शानमद दुविधा हो गया। कबीर ने अवहेलना करते हुये उसे भी ललकारा— तुम कत ब्राह्मण हम कत सूद। वह मौन था कबीर ने समीप प्रहार किया—

---

51 इ. ३२४, ७।
52. इ ४७७, ८।
53 इ. ४७७, ८।

जो तू ब्राह्मण ब्रह्मणी जाइया
तो आन बाट काहे नहीं आइया ।[54]

कबीर का तर्क ज्ञान का तर्क नहीं था। वह तो अनुभूति का सत्य था। दोनों के पास उसका कोई उत्तर न था। अतः दोनों को ही कबीर ने समझाया कि 'मत हरि पूछै कवन है मेरे वासि न भाउ'[55] भगवान ने भक्त की जाति तो क्या नाम तक भी कभी नहीं पूछा। इसीलिए तो वह कहता है कि —

हमरा झगड़ा रहा न कोउ।
पण्डित मुल्ला छांड़े दोउ॥[56]

इस प्रकार सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए छूत-छात जात-पात तथा कर्म व्यवसाय के सभी भेदों का दूर कर भगवान के दरबार में प्रत्येक मानव की एक ही जाति का सन्देश दिया। एक ही धर्म मानव धर्म का प्रसार किया एक ही ब्रह्म एक मात्र पूर्ण सत्य ब्रह्म का बोध कराया। एक ही मार्ग अनवरत अनन्य तल्लीनता का भक्ति मार्ग सुझाया। कौन जानता है गुरु नानक ने कितने तत्त्व यहीं से संगृहीत किये थे ? कौन जानता है अकबर का दीन इलाही इसी का अस्पष्ट प्रतिबिम्ब मात्र था ? कौन जानता है रवीन्द्र के अथाह रहस्यवाद की थाह अबोध कबीर के शब्दों में ही छिपी हुई थी ? कौन जानता है गांधी के हिन्दू मुस्लिम के ऐक्य की भावना का आदि स्रोत कबीर के ही कुछ पद हैं।

54 पृ ३२४, ७।　　55 ग्रन्थ ६०।
56 पृ ११४८, ७।

और कौन जानता है अरविन्द के आनन्दमय निष्काम कर्मण्य जीवन के मूल आध्यात्मिक तन्तु जुलाहे के सूत से ही एकत्र किये गये हैं इसी लिये कबीर धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में अमर हो गये हैं।

कबीर की भर्त्सना में जितनी प्रचण्डता है उसकी ओट में जितनी तीव्रता है उसके व्यंग में जितनी मुस्कराहट है, उसके वर्णन में जितनी सजीवता है, उसके कथन में जितनी सादगी है, उसके सन्देश में जितनी गहराई है, उसके शब्द में जितनी मर्म स्पर्शिता है, उसके काव्य में जितना रस है उतनी ही उसकी अभिव्यक्ति में अनुभूति है। यही कारण है कि आडम्बर भरे सम्पूर्ण जगत के विरोधी कबीर का विरोध करके भी कुछ न कर सके। राज्य शासक उसे मार कर भी मार न सके, समाज उसका बहिष्कार करके भी उसे छोड़ न सका, शासक उसे ठोकर लगा कर भी ठुकरा न सके, लेकिन दुःख की बात यह है कि हिन्दू तथा मुसलमान उसे अपना कह कर भी अपना न सके। सम्भवतः प्रत्येक दिव्यात्मा का ऐसा ही अन्त होता है और कबीर भी उसके अपवाद न थे।



—७—

# संतों की सामान्य मान्यताएँ

लौकिक एवं पारलौकिक जीवन में अद्भुत संतुलन और समन्वय स्थापित कर गौरवमय वैयक्तिक जीवन व्यतीत करने वाले सन्तों ने समय समय पर समाज का पथ प्रदर्शन कर युग-नेता का रूप ग्रहण किया है। वस्तुतः सन्त कोई व्यक्ति विशेष न होकर *भावना विशेष है, जिसका प्रसार अन्यान्य* युगों में विभिन्न व्यक्तियों के माध्यम से हुआ है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जावे तो पता चलता है, कि इस भावना विशेष के मूल तत्वों में प्रायः परिवर्तन नहीं होता। युग की आवश्यकता और व्यक्ति की रुचि तथा सामर्थ्य के अनुरूप इन तत्वों के अनुपात और क्रियात्मक प्रसार में थोड़ा बहुत अन्तर आता रहता है पर इससे मूल भावना में कोई विशेष अन्तर नहीं आता। भारतीय मध्य-युग के इतिहास को साधक बनाने के लिए ही मानों इस भावना का यहां विकास हुआ—जो कबीर जैसा सशक्त व्यक्तित्व पाकर अपने प्रौढ़ रूप में प्रतिफलित हुई।

पतृक सम्पदा में प्राप्त आर्थिक दरिद्रता और नैतिक समृद्धि संतों के जीवन का सबसे बड़ा आभूषण रहा है। उनके जीवन की कर्मण्यता इस आर्थिक दरिद्रता का ही वरदान है और आन्तरिक गुणों के विकास के कारण प्रखर व्यक्तित्व इस नैतिक समृद्धि की ही देन है। समाज के तथा-कथित

निम्न-वर्ग से उद्भूत इन संतों को समाज ने ठुकराने का दुस्साहस एकत्रित किया, लेकिन कौन जानता था, कि यह दुस्साहस संतों को ही वह अदम्य शक्ति प्रदान करेगा, कि वे इस आडम्बर पूर्ण समाज को ही ठुकरा कर अपने पीछे लगा लेंगे। समाज के इस दुस्साहस ने उन्हें तन कर खड़े होने की शक्ति प्रदान की। उन्हें अपनी शक्ति सामर्थ्य और मान्यताओं पर जो विश्वास था, वह और भी दृढ़ हो गया। इस आत्मनिष्ठा और आत्म विश्वास के बल पर वे न केवल स्वयं ही खड़े हुए, अपितु समाज के कुछ व्यक्तियों को भी उन्होंने अपने साथ खड़ा पाया। यह उनकी सफलता का पहला चिह्न था। धीरे २ समाज उनकी पुकार सुनने पर विवश हो गया। फलस्वरूप संतों में कही गई कई बातों ने समाज को अनायास ही प्रभावित करना प्रारम्भ किया क्योंकि उनके यथार्थ-चित्रण में सत्य का बल था, जिसकी बहुत देर तक उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस प्रकार संत भावना, जो अब तक व्यक्ति के माध्यम से ही अभिव्यक्त होती थी, अब अविछिन्न धारा के रूप में सामाजिक परम्परा ही बन गई। मध्य-युगीन भारतीय समाज को इन संतों की यह सबसे बड़ी देन है। यह अविछिन्न सामाजिक परम्परा ही संतों की सामान्य मान्यताओं की साधन-भूमि है। एक परम्परा में चली आने वाली मान्यताओं में कोई परिवर्तन न हुआ हो ऐसी बात नहीं लेकिन इन परिवर्तनों का सम्बन्ध उनके मूल-तत्त्वों से न होकर उनकी अभिव्यक्ति या उनके बाह्य आवरण-मात्र से ही अधिक है इस प्रकार कबीर से कुछ पहले से ही संत विचारधारा के जो तत्त्व विकसित हो रहे थे, वे न केवल कबीर में पूर्णतया विकसित और सम्बद्ध

होकर प्रकट हुए, अपितु देर तक समाज को प्रभावित करने वाली सदाक्त विचारधारा के रूप में तब से उसकी अविछिन्न परम्परा भी प्रवाहित हो चली जो आज तक इस देश में उसी तरह जीवित और जागृत है। सच पूछा जावे तो रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, महात्मा गांधी, श्री अरविन्द तथा विनोबा भावे उसी परम्परा के आधुनिकतम फल हैं।

सन्तों का समष्टिगत व्यक्तित्व इन सामान्य मान्यताओं की आधार-भूमि है। लौकिक तथा पारलौकिक जीवन की साधना उन्होंने एक ही व्यक्तित्व के माध्यम से की है। सांसारिक विषमताओं से घबराकर वे जंगल में भाग कर ब्रह्म की साधना करने नहीं चले गए बल्कि कर्मण्य जीवन बिता कर उनसे जूझ पड़े इस प्रकार लौकिक उलझनों को क्रियात्मक जीवन के माध्यम से सुलझाने का प्रयत्न किया। और इस क्रियात्मक कर्मण्य जीवन के माध्यम से अनायास ही उनकी परलोक की साधना भी होती रही। वे न कभी मंदिर गए, न मूर्ति-पूजा की। व्रत, तीर्थ, स्नान उपवास और माला फेरने से भी वे कोसों दूर रहे फिर भी इस प्रकार के आचार-प्रधान ब्राह्मणों से वे कहीं अधिक धार्मिक बने रहे। इन ब्राह्मणों ने पार्थिव और पारलौकिक जगत में समाज के लिए जो खाई पाट रक्खी थी, वैयक्तिक विचार और आचार से इन्होंने न केवल उसे भर दिया, अपितु जन-मानस के लिये प्रशस्त राज पथ का भी निर्माण कर दिया। इस प्रकार वैयक्तिक स्वरूप आचरणगत जीवन इनकी सामान्य मान्यताओं का सबसे सशक्त आधार है।

समाज की धार्मिक सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक व सांस्कृतिक सभी प्रकार की समस्याओं का उन्होंने वैयक्तिक जीवन के माध्यम से समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। उचित साधन और सत्य साध्य पर विश्वास ने उन्हें जो आन्तरिक शक्ति प्रदान की थी, उसी के बल पर वे इन समस्याओं से घबराए नहीं। यह ठीक है, कि वैयक्तिक सामर्थ्य की सीमाओं के कारण वे इन में से बहुत कम समस्याओं का समाधान प्रस्तुत कर सके, लेकिन अधिक महत्त्व-पूर्ण यह है, कि ये विषमताएं उनके व्यक्तित्व को विशृंखलित न कर सकीं और वे सदा इनसे जूझते ही रहे—भागे कभी नहीं और इसी लिए हारे भी कभी नहीं। धार्मिक आडम्बरों और आवरणों का उन्होंने खुलकर विरोध किया। सामाजिक कुरीतियों को उन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया और यथा-सम्भव उन पर भी कुठाराघात किया। राजनैतिक अत्याचारों से जूझने में उन्होंने सिर तक कटा दिया पर उसे झुकने नहीं दिया—यह क्या कम है। और आर्थिक दरिद्रता से अपने को उबारने के लिये कोई जीवन भर कपड़ा बुनता रहा तो कोई जूतियां ही गांठता रहा—यह उनके जीवन की महानता नहीं तो और क्या है। कुल मिलाकर समाज की किसी भी शक्ति के प्रहार से उन्होंने अपने व्यक्तित्व को विघटित नहीं होने दिया यही उनकी सफलता का रहस्य है। इसीलिए वे सन्त-व्यक्तित्व की परम्परा में संत भावना की ज्योति को जीवित और जागृत रख सके। जीवन की सभी समस्याओं के प्रति उनकी यह सन्तुलित दृष्टि उनके सुरक्षित व्यक्तित्व की परम्परा को बनाए रख सकी।

होकर प्रकट हुए अपितु देर तक समाज को प्रभावित करने वाली सशक्त विचारधारा के रूप में तब से उसकी अविच्छिन्न परम्परा भी प्रवाहित हो चली जो आज तक इस देश में उसी तरह जीवित और जागृत है। सच पूछा जावे तो रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द महात्मा गांधी, श्री अरविन्द तथा विनोबा भावे उसी परम्परा के आधुनिकतम फल हैं।

सन्तों का समष्टिगत व्यक्तित्व इन सामान्य मान्यताओं की आधार भूमि है। लौकिक तथा पारलौकिक जीवन की साधना उन्होंने एक ही व्यक्तित्व के माध्यम से की है। सांसारिक विषमताओं से घबराकर वे जंगल में भाग कर ब्रह्म की साधना करने नहीं चले गए बल्कि कर्मण्य जीवन बिता कर उनसे जूझ पड़े इस प्रकार लौकिक उलझनों को क्रियात्मक जीवन के माध्यम से सुलझाने का प्रयत्न किया। और इस क्रियात्मक कर्मण्य जीवन के माध्यम से अनायास ही उनकी परलोक की साधना भी होती रही। वे न कभी मन्दिर गए, न मूर्ति-पूजा की। व्रत, तीर्थ, स्नान उपवास और माला फेरने से भी वे कोसों दूर रहे फिर भी इस प्रकार के आचार प्रधान ब्राह्मणों से वे कहीं अधिक धार्मिक बने रहे। इन ब्राह्मणों ने पार्थिव और पारलौकिक जगत में समाज के लिए जो खाई पाट रखी थी वैयक्तिक विचार और आचार से इन्होंने न केवल उसे भर दिया, अपितु जन-मानस के लिये प्रशस्त राज पथ का भी निर्माण कर दिया। इस प्रकार वैयक्तिक स्वस्थ आचरणगत जीवन इनकी सामान्य मान्यताओं का सबसे सशक्त आधार है।

समाज की धार्मिक सामाजिक, राजनैतिक आर्थिक व सांस्कृतिक सभी प्रकार की समस्याओं का उन्होंने वैयक्तिक जीवन के माध्यम से समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। उचित साधन और सत्य साध्य पर विश्वास ने उन्हें जो आन्तरिक शक्ति प्रदान की थी, उसी के बल पर वे इन समस्याओं से घबराए नहीं। यह ठीक है, कि वैयक्तिक सामर्थ्य की सीमाओं के कारण वे इन में से बहुत कम समस्याओं का समाधान प्रस्तुत कर सके, लेकिन अधिक महत्व-पूर्ण यह है, कि ये विषमताएं उनके व्यक्तित्व को विशृंखलित न कर सकीं और वे सदा इनसे जूझते ही रहे — भागे कभी नहीं और इसी लिए हारे भी कभी नहीं। धार्मिक आडम्बरों और आवरणों का उन्होंने खुलकर विरोध किया। सामाजिक कुरीतियों को उन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया और यथा-सम्भव उन पर भी कुठाराघात किया। राजनैतिक अत्याचारों से जूझ ? उन्होंने सिर तक कटा दिया पर उसे झुकने नहीं दिया — यह क्या कम है। और आर्थिक दरिद्रता से अपने को बचाने के लिये कोई जीवन भर कपड़ा बुनता रहा तो कोई जूतियां ही गांठता रहा — यह उनके जीवन की महानता नहीं तो और क्या है। कुल मिलाकर समाज की किसी भी [illegible] ने उन्होंने अपने व्यक्तित्व को विभक्त नहीं होने दिया [illegible] उनकी सफलता का रहस्य है। इसीलिए व युग-व्यक्तित्व [illegible] परम्परा में संत भावना की ज्योति को जीवित और [illegible] रख सके। जीवन की सभी समस्याओं के [illegible] सर्वांगीण दृष्टि उनके सुरक्षित व्यक्तित्व की [illegible] रख सकी।

—

इसी व्यक्तित्व के कारण उनकी जीवन और जगत् के प्रति विशेष दृष्टि विकसित हुई। विश्व की चतुर्दिक समृद्धि और उसकी सामग्री उनके जीवन-यापन में साधन से अधिक कोई स्थान न ग्रहण कर सकी। उनका लक्ष्य सदा ही इससे भिन्न रहा। इसीलिए उनमें कभी ईर्ष्या न हुई और उस साध्य की ओर बढ़ते हुए भी वे मस्त फक्कड़ ही रहे। अलौकिक साध्य को स्वीकार करने के कारण उनके जीवन-दर्शन में एकरूपता के साथ २ स्थायित्व भी बना रहा। वस्तुतः जीवन-दर्शन में इस समता ने ही संत भावना की नींव को दृढ़ता और स्थिरता प्रदान की।

वैयक्तिक जीवन में सभी संतों ने अनुभूति का महत्व स्वीकार किया है। और इसी आधार पर उन्होंने क्रियात्मक जीवन बिताया है। यह अनुभूति ही उनके धर्म की आधार भूमि थी। इसीलिए सामाजिक परम्परा में मान्यता प्राप्त आचारों को भी उन्होंने वहीं तक ग्रहण किया, जहां तक वे उनकी अनुभूति की कसौटी पर खरे उतरते थे। उन सामाजिक या धार्मिक आचारों और विश्वासों का उनके जीवन में कोई स्थान न था, जो उनकी अनुभूति की कसौटी पर पूरे न उतरते थे। इस प्रकार उनका जीवन वैयक्तिक पहले था, सामाजिक बाद में।

इनकी जीवन-दृष्टि मूलतः मानवता-वादी थी। इसी लिए छींपा, दर्जी, नाई, जुलाहा, चमार और राजा सभी एक भक्ति के सूत्र में पिरोये जाकर 'संत-माला' के जगमगाते 'माणिक' बन गये। गत छः सात शताब्दियों में भारत में

वारों सत सम्प्रदायों ने जन्म लिया, लेकिन इस मानवतावादी दृष्टि से कोई भी दूर न रह सका। धर्म धर्म, कर्म व जाति के आधार पर मानव-समाज का विभाजन किसी ने भी स्वीकार नहीं किया। इतना ही नहीं, उत्तराधिकारी के चुनाव में भी इनमें से किसी आधार या पुत्र-परम्परा का भी स्वीकार न किया गया, अपितु जिस शिष्य में मानवीय तत्त्व सर्वाधिक विकसित हो सके हैं, उसे ही गद्दी का अधिकारी बनाया गया। वैयक्तिक स्वार्थों के कारण सदा ही इसके विरुद्ध विद्रोह हुआ है, लेकिन मानवतावादी दृष्टि इस विद्रोह के सम्मुख कभी झुकी नहीं—इसी से इसका महत्त्व स्पष्ट है।

संतों ने काव्य-निर्माण का बीड़ा कभी नहीं उठाया था और न ही काव्य-गत विशेषताओं से उनका कोई परिचय ही था। कभी वे वैयक्तिक आह्लाद में व गान पर विवश हो गये थे। इस आन्तरिक विवशता में अनुभूति की जो अभिव्यक्ति हुई अथवा जन-सामान्य का जिस वाणी में उन्होंने अपना सन्देश दिया, उसे हम उनका काव्य समझ बैठे। मूलतः काव्यत्व तो उनके संदेश का बहुत गौण तत्त्व था, इसीलिए साहित्यिक दृष्टि से इसका मूल्यांकन करने वाले इनके साथ न्याय न कर सके। उनके सम्पूर्ण काव्य का प्रेरणा स्रोत वैयक्तिक आनन्द तथा सामाजिक संदेश रहा है, अतः मूल्यांकन करते हुए हम इसे भुला नहीं सकते।

संत-भावना की यह सामान्य पृष्ठभूमि थी, जिस पर विचारधारा विशेष का प्रासाद निर्मित हुआ। आगामी पंक्तियों

में इसका विशेषताओं का उल्लेख करने का प्रयत्न किया गया है।

संतो का ब्रह्म अनिर्वचनीय है। दार्शनिक दृष्टि से उसे अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि कोटियों मे नहीं रक्खा जा सकता। वस्तुतः संतों ने उसे बौद्धिक या तार्किक-पद्धति का आधार नहीं प्रदान किया, अतः इस दृष्टि से उसकी उचित व्याख्या भी नहीं हो सकती। कबीर के ब्रह्म पर विचार करते हुए हम देख आए हैं कि वह न केवल द्वं द्वातीत है, अपितु वह तो निर्गु ण सगुणातीत भी है। वह तो केवल अनुभूति का विषय है। इसीलिए उसके स्वरूप और गुणों की अन्यान्य व्याख्याओं के बाद भी कभी कोई संत संतुष्ट नहीं था कि वह समाज के लिये ब्रह्म के रूप का स्पष्टीकरण कर सका है।

उसका गुण-गान करते 'सुर नर मुनि जन' का तो कहना ही क्या स्वतः ब्रह्मा तक थक गए, लेकिन अनन्त का कोई अंत न पा सके। उपनिषदों की तरह ब्रह्म की 'नेति' परक व्याख्या भी यहां मिलती है, उसे सर्वज्ञ सर्व व्यापक सर्वान्तर्यामी सर्वकर्ता सर्व नियंता आदि स्वीकार किया गया है। मूलतः निर्गु ण वह अनिर्वचनीय है लेकिन गुणों के माध्यम से जब उसके स्वरूप की व्याख्या करने का प्रयत्न किया जाता है, तो वह सगुण निराकार रूप ग्रहण कर लेता है। लेकिन संतों का सगुण निराकार स्वरूप भी तुलसी जैसा सगुण नहीं क्योंकि वह तो लौकिक गुणों से अतीत ही है, इसलिए मूलतः हम उसे निर्गु ण ही स्वीकार करते हैं।

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसी का प्रसार है लेकिन वह स्वतः

अविकृत और निर्लिप्त रहता है। सृष्टि का एक मात्र ब्रह्म उपादान और निमित्त कारण है। संतों की दृष्टि में सृष्टि एकदम मिथ्या नहीं, वह सत्य है, क्योंकि सत्य ब्रह्म का ही प्रसार है। सृष्टि का प्रत्येक प्राणी जीव भी उसी तरह सत्य है। वस्तुतः आत्मा और और परमात्मा में उन्होंने अद्वैतिक सम्बन्ध को स्वीकार किया है। अग्नि-स्फुलिंगवत् जीव में ब्रह्म के सब गुण हैं उन्हें वह विकसित कर ब्रह्म से तादात्म्य और ऐक्य स्थापित कर अपने व्यक्तित्व का उसी में तिरोहण कर सकता है। यह जीव के जीवन का लक्ष्य या साध्य है जो प्राप्त करना दुष्कर है, लेकिन संतों ने मानव को सदा इसके प्रति सतर्क किया है, और इसे प्राप्त करने की प्रेरणा भी दी और मार्ग भी बताया है। इस भेद के आभास का कारण उन्होंने संविधी माया को बताया है। वस्तुतः माया ही जीव को भरमा कर इस संसार के प्रलोभनों में फंसा देती है और उस लक्ष्य से पथ भ्रष्ट कर देती है। इन्द्रियों के वश में होने के कारण जीव मुख्यतः कंचन और कामिनी का शिकार हो जाता है। लौकिक समृद्धि की चाह उसे सब प्रकार के दुष्कर्मों की प्रेरणा देती है और कामिनी-नारी मानव की वासनाओं को उभार कर उसके चित्त को मलिन कर देती है। संतों ने इनका विरोध नहीं किया, अपितु इनका परिहार किया है। भरमाने वाली माया से जीव को सजग करते हुए उन्होंने अनावश्यक धन-संग्रह को जहां बुरा बताया है, वहां पूर्णतः कामिनी में लिप्त हो जाने की भी भरपेट निन्दा की है। लेकिन धन और स्त्री का न मूल बल्कि साधुओं में भी वे न थे। अपनी आजीविका अर्जित करने के लिए उन्होंने कमण्ड गृहस्थ जीवन बिताया, लेकिन उसे ही सब

कुछ नहीं समझ बैठे। उन्होंने लौकिक और पारलौकिक जीवन में अद्भुत सन्तुलन स्थापित किया हुआ था। इसीलिए कबीर को अपनी माँ के उलाहनों का शिकार बनना पड़ा था लेकिन भावात्मक आवेश में उसने अपनी विचारधारा का त्याग नहीं किया था, यही उनके व्यक्तित्व की महानता थी। वस्तुतः जहाँ एक ओर इन सन्तों ने माया-लिप्त हो धन-संग्रह का विरोध किया था वहाँ अकर्मण्य-जीवन का भी उतनी ही शक्ति-पूर्वक विरोध किया था। इसी प्रकार गृहस्थ में लिप्त गृहस्थियों और पलायनवादी साधुओं—दोनों का ही उन्होंने विरोध किया था। सच पूछा जावे तो इसी से उनके 'सहज-पथ' का निर्माण हुआ है। प्रकृति के स्वाभाविक नियमों को उन्होंने सहज रूप में अपनाया और क्रियात्मक जीवन के माध्यम से जन-समाज को अपनाने का संदेश भी दिया।

वह युग अन्तर्विरोधों का युग था। ज्ञानियों के शुष्क-ज्ञान ने उनके अहंकार को अवश्य जागृत किया था पर उनका बौद्धिक संतोष न कर सका था। सन्तों ने ज्ञानाधारित सत्यों को वहीं तक अपनाया जहाँ तक वे जीवन बोझिल न बनाने वाले सिद्ध हुए। ज्ञान को अपनाए बिना उसकी बात करने वालों को उन्होंने धिक्कारा है। इसीलिए वेदों इत्यादि पुस्तकी विद्या की निन्दा नहीं की, अपितु उसे समझे बिना अपनाने का राग अलापने वालों को आड़े हाथों लिया है। उनकी कृतियों में कहीं कहीं पुस्तकी विद्या का विरोध भी प्रतीत होता है उससे भी मूल भाव उसके ज्ञान को न अपनाने वालों का ही विरोध है। अनुभूत्याधारित ज्ञान को इन्होंने सर्वत्र ही प्रश्रय दिया है।

जनसमाज में विभिन्न सम्प्रदायों के माध्यम से प्रचरित होने वाली भक्ति में उन्होंने भाव का अभाव पाया। इसी लिए भक्ति के बाह्य आवरण अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गए, परन्तु उसकी आन्तरिक-शक्ति क्षीण होती गई। सन्तों ने भाव-हीन आवरणों और आडम्बरों का डट कर विरोध किया। मूर्ति-पूजा करने वालों का पत्थर में बसी मूर्ति से परिचय कराया, मन्दिर जाने वालों को मन-मन्दिर की याद दिलाई, कर का मनका फेरने वालों को 'मन का मनका' ला पकड़ाया, तीर्थों में भ्रमण करने वालों को सद्गुरु रूपी तीर्थ के दर्शन करवाये, गंगा-स्नान करने वालों को अन्तः स्नान का पाठ पढ़ाया, व्रत रखने वालों को वास्तविक व्रत का महत्त्व बताया, इन आवरणों के माध्यम से भक्ति अपनाने में प्रयत्नशील को भक्ति के मूल-तत्त्व भाव पूर्ण 'नाम' का वरदान दिया। इस प्रकार भक्ति का तो इन्होंने विरोध नहीं किया अपितु उसे परिष्कृत रूप प्रदान कर सहज और स्वाभाविक बना दिया ताकि जन-सामान्य भाव पूर्ण हृदय से—बिना किसी आडम्बर के भी उसे अपना सकें।

योगियों की जटिल हठिक क्रियाओं में फँस कर नाम ने भी विकट रूप धारण कर लिया था। सन्तों ने इस जटिलता का विरोध कर उसे सहज बनाया। जहाँ तक स्वास्थ्य-रक्षा का सम्बन्ध है उन्होंने मानव स्वस्थ देह का निमित्त करने का सन्देश दिया है, किन्तु विकृत साधनाओं के माध्यम से उसे मनोवांछित रूप से कष्ट-सहिष्णु बनाने का गुरु का विरोध किया है। केवल देह को कष्ट देकर यौगिक क्रियाओं के माध्यम से ब्रह्म प्राप्ति या ब्रह्म-ध्यान से उन्होंने असहमति प्रकट की है।

इस प्रकार स्वस्थ व दीर्घ जीवन व्यतीत करने की दृष्टि से उन्होंने देह का महत्त्व स्वीकार किया है लेकिन सहज मार्ग का त्याग करके नहीं।

सच पूछा जावे, तो उन्होंने एक बार फिर ज्ञान, भक्ति और कर्म की एकांगिता का विरोध कर—तीनों का उचित समाहार कर—समन्वित जीवन-दृष्टि प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार तीनों के विकारों से तंग आकर धर्म पराङ्मुख होती हुई जनता को एक बार फिर धर्मोन्मुख किया। इस कार्य के लिए उनका सब से बड़ा सहायक हुआ सत्गुरु। सन्तों ने इस बात को समझ लिया था कि अज्ञानी गुरुओं ने ही भोली भाली जनता को पथ भ्रष्ट किया हुआ है इसीलिए उन्होंने सत्गुरु की बड़ी कठिन कसौटी रख दी लेकिन इसके साथ साथ उसका महत्त्व भी अत्यधिक बढ़ा दिया। सत्गुरु वही हो सकता है जिसने शुद्ध मार्ग पा लिया है और जो संसार से ऊपर उठ चुका है, अब जिसे केवल लोक-कल्याण की लगन है। इसलिए उसका महत्त्व साध्य से भी अधिक हो गया, क्योंकि इस साधन के बिना साध्य की प्राप्ति सम्भव नहीं। सत्गुरु ने समाज को सत्कर्म का महत्त्व बताया। बिना सत्कर्मों के मानव का वह धरातल ही नहीं बन पाता, जहाँ वह पारलौकिक जीवन की बात सोच सके। सत्कर्मों के माध्यम से मानव इतना औचित्य-परक बन जाता है, कि 'नाम' प्राप्त करने का अधिकारी बन जावे। सत्गुरु का सबसे बड़ा वरदान 'नाम' है। सांसारिक जीव इस नाम के सहारे ही उस दिव्य और अलौकिक सत्ता से अपना सम्बन्ध जोड़ता है, क्योंकि मूर्ति आदि उसके प्रतीक-स्वरूप और कोई साधन जीव के पास

नहीं है। इस 'नाम' में अनन्यता, एकाग्रता और अनवरत तन्मयता भक्त को सफलता प्रदान करने वाले विशिष्ट तत्व हैं। सन्तों ने नाम को इतना महत्व दिया इसी से इनके नाम को कइयों ने नाम-मार्ग तक की संज्ञा प्रदान कर दी है। नाम कोई भी हो उसका उतना महत्व नहीं जितना उसमें अन्तर्हित भाव का। और नाम तो उस भाव को ही जागृत रखने का साधन मात्र है सच पूछा जावे तो सद्गुरु और नाम को अर्जित नहीं किया जा सकता यह तो भगवत्कृपा से ही प्राप्त हो सकता है और यह भगवत्कृपा कब हो, यह कोई नहीं जान सकता। व्यक्ति भाव परायण होकर सत्कर्म करता चले, यदि उसके विश्वास में बल होगा निश्चय में दृढ़ता होगी भक्ति में अनन्यता होगी, तो भगवत्कृपा भी कभी न कभी हो ही जावेगी। और जब भगवत्कृपा हो गई तो कोई समस्या शेष नहीं रह जाती। सन्तों ने एक स्वर से भगवत्कृपा को ही सर्वप्रधान साधन स्वीकार किया है। सत्कर्म सत्संगति सद्गुरु आदि इसके लिए उपयुक्त वातावरण का निर्माण कर सकते हैं, इससे अधिक कुछ नहीं।

अपनी अनुभूति को अभिव्यक्ति देने के लिए उन्होंने आलंकारिक चमत्कारमयी वाणी का आश्रय नहीं लिया, अपितु भाषा की सरलता स्पष्टता और शक्तिमत्ता ने ही उनकी शैली को साहित्यिकता प्रदान की है। न उनके मन में, न उनकी विचारधारा में किसी प्रकार का दुराव छिपाव था, और न ही अभिव्यक्ति में कोई वक्रता। हां उनके सीधे-सादे परन्तु सशक्त व्यंग्यों में आडम्बरवादियों को तिलमिला देने की अद्भुत सामर्थ्य थी, यही उनकी अभिव्यक्ति की शक्ति है। इसका

यह मतलब नहीं कि उनकी वाणी में मधुरता न हो। भगवान के सम्मुख उनकी विनयिता की हद होती है—उनका अपना तो अस्तित्व ही नहीं रहता। वस्तुतः उनकी अभिव्यक्ति को उनकी विचारधारा नहीं भावनाएं ढालती रही हैं, इसी से वह सहज स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक बन सकी है। सीधा जन-मन के हृदय को प्रभावित करती है, इससे बढ़कर उसकी निश्छलता का प्रमाण हो भी क्या सकता है।

सन्त भावना किसी सम्प्रदाय विशेष में आबद्ध नहीं हुई इसीलिए अन्यान्य सम्प्रदायों के माध्यम से इस एक ही भावना का विकास होता रहा और हो रहा है। यह मानवीय धरातल पर विकसित हुई है। किसी भी धर्म, कर्म, पथ और जाति के वर्ग का व्यक्ति इसे अनायास हो अपना सकता था और जब चाहे इसका त्याग भी कर सकता था। यहां किसी प्रकार का बन्धन न था, जाति या वर्ग बहिष्कृत करने की आवश्यकता न थी। सन्तों की मान्यताओं का धरातल बड़ा व्यापक था। वस्तुतः उनकी मान्यताओं की आधार-भूमि एक ही थी, अतः उन पर जिस नियात्मक जीवन या जीवन-दर्शन का विकास हुआ उसके मूल-तत्त्वों में कोई अन्तर न आया। इस भावना के स्थायित्व का कारण इसकी सहज स्वाभाविकता है। कृत्रिम क्रिया कलापों को इसमें स्थान न दे कर सन्तों ने इसे विघिष्ट नहीं होने दिया। बाह्य आवरणों, आडम्बरों या कर्मकाण्डों के अभाव ने इसे भाव प्रधान बना रहने में सहायता दी। इस प्रकार अकौशलता के आधार-स्तम्भों के अभाव में इसे कम विरोध सहना पड़ा और यह सामान्य धरातल पर विकसित होती गई। वैयक्तिक चारित्रिक दृढ़ता ने इसे और भी

शक्ति प्रदान की। समाज के किसी भी वर्ग से आने वाले प्रतिभावान व्यक्ति ने इसे हँस कर अपनाया, यदि नहीं भी अपनाया तो कम से कम इसका विरोध नहीं किया। इस प्रकार प्रत्येक युग के, सभी वर्गों के प्रतिभावान् व्यक्तियों का आश्रय पाकर यह सशक्त होती गई।

वैज्ञानिक प्रगति और राजनैतिक अशांति के इस युग में आज राजनीतिज्ञों ने 'विश्व-सरकार' की आवश्यकता अनुभव की है। यह समस्या का बहुत ऊपरी समाधान है। यदि और गहराई में जाकर मानव-मानव को निकट लाने का प्रयत्न किया जावे, तो यह 'मानव धर्म' और कुछ नहीं, इन सन्तों की सामान्य मान्यताओं का ही विकसित एवं परिष्कृत रूप है। सन्तों की मान्यताओं का महत्त्व इसी से स्पष्ट है। धरा धाम का उद्धार करने वाले, मानव-मानव को एकता का सन्देश देने वाले, जीवन में अलौकिक रस का संचार करने वाले, विश्व में शान्ति का प्रसार करने वाले सन्तों और उनकी मान्यताओं का यह संक्षिप्त-सा लेखा-जोखा है।



यह मतलब नहीं कि उनकी वाणी में नम्रता न हो। भगवान के सम्मुख उनकी विनयिता की हद होती है—उनका अपना तो अस्तित्व ही नहीं रहता। वस्तुतः उनकी अभिव्यक्ति को उनकी विचारधारा नहीं भावधारा थामती रही है, इसी से वह सहज स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक बन सकी है। सीधा जन-मन के हृदय को प्रभावित करती है, इससे बढ़कर उसकी निश्छलता का प्रमाण हो भी क्या सकता है।

सन्त-भावना किसी सम्प्रदाय-विशेष में आबद्ध नहीं हुई इसीलिए अन्यान्य सम्प्रदायों के माध्यम से इस एक ही भावना का विकास होता रहा और हो रहा है। यह मानवीय धरातल पर विकसित हुई है। किसी भी धर्म, कर्म, मत और जाति के वर्ग का व्यक्ति इसे अनायास ही अपना सकता था और जब चाहे इसका त्याग भी कर सकता था। यहां किसी प्रकार का बन्धन न था, जाति या वर्ग बहिष्कृत करने की आवश्यकता न थी। सन्तों की मान्यताओं का धरातल बड़ा व्यापक था। वस्तुतः उनकी मान्यताओं की आधार भूमि एक ही थी, अतः उन पर जिस क्रियात्मक जीवन या जीवन-दर्शन का विकास हुआ उसके मूल-तत्त्वों में कोई अन्तर न आया। इस भावना के स्थायित्व का कारण इसकी सहज स्वाभाविकता है। कृत्रिम क्रिया कलापों को इसमें स्थान न दे कर सन्तों ने इसे विक्षिप्त नहीं होने दिया। बाह्य आवरणों, आडम्बरों या कर्मकाण्डों के अभाव ने इसे भाव प्रधान बना रहने में सहायता दी। इस प्रकार संकीर्णता के आधार-स्तम्भों के अभाव में इसे कम विरोध सहना पड़ा और यह सामान्य धरातल पर विकसित होती गई। वैयक्तिक चारित्रिक दृढ़ता ने इसे और भी

यह मतलब नहीं कि उनकी वाणी में नम्रता न हो। भगवान के सम्मुख उनकी विलयिता की हद होती है—उनका अपना तो अस्तित्व ही नहीं रहता। वस्तुतः उनकी अभिव्यक्ति को उनकी विचारधारा नहीं भावयोग थामती रही है, इसी से वह सहज स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक बन सकी है। सीधा जन-मन के हृदय को प्रभावित करती है, इससे बढ़कर उसकी निश्छलता का प्रमाण हो भी क्या सकता है।

सन्त भावना किसी सम्प्रदाय विशेष में आबद्ध नहीं हुई इसीलिए अन्यान्य सम्प्रदायों के माध्यम से इस एक ही भावना का विकास होता रहा और हो रहा है। यह मानवीय धरातल पर विकसित हुई है। किसी भी धर्म, वर्ण, वर्ग और जाति के वर्ग का व्यक्ति इसे अनायास ही अपना सकता था और जब चाहे इसका त्याग भी कर सकता था। यहाँ किसी प्रकार का बन्धन न था, जाति या वर्ग बहिष्कृत करने की आवश्यकता न थी। सन्तों की मान्यताओं का धरातल बड़ा व्यापक था। वस्तुतः उनकी मान्यताओं की आधार भूमि एक ही थी, अतः उन पर जिस क्रियात्मक जीवन या जीवन-दर्शन का विकास हुआ उसके मूल-तत्वों में कोई अन्तर न आया। इस भावना के स्थायित्व का कारण इसकी सहज स्वाभाविकता है। कृत्रिम क्रिया कलापों को इसमें स्थान न दे कर सन्तों ने इसे विशिष्ट नहीं होने दिया। बाह्य आवरणों, आडम्बरों या कर्मकाण्डों के अभाव ने इसे भाव प्रधान बना रहने में सहायता दी। इस प्रकार संकीर्णता के आधार-स्तम्भों के अभाव में इसे कम विरोध सहना पड़ा और यह सामान्य धरातल पर विकसित होती गई। वैयक्तिक चारित्रिक दृढ़ता ने इसे और भी

शक्ति प्रदान की। समाज के किसी भी वर्ग से आने वाले प्रतिभावान् व्यक्ति ने इसे हँस कर अपनाया, यदि नहीं भी अपनाया तो कम से कम इसका विरोध नहीं किया। इस प्रकार प्रत्येक युग के, सभी वर्गों के प्रतिभावान् व्यक्तियों का आश्रय पाकर यह सशक्त होती गई।

वैज्ञानिक प्रगति और राजनैतिक अशान्ति के इस युग में आज राजनीतिज्ञों ने 'विश्व-सरकार' की आवश्यकता अनुभव की है। यह समस्या का बहुत ऊपरी समाधान है। यदि और गहराई में जाकर मानव-मानव को निकट लाने का प्रयत्न किया जावे, तो वह 'मानव धर्म' और कुछ नहीं इन सन्तों की सामान्य मान्यताओं का ही विकसित एवं परिष्कृत रूप है। सन्तों की मान्यताओं का महत्त्व इसी से स्पष्ट है। धरा धाम का उद्धार करने वाले, मानव-मानव की एकता का सन्देश देने वाले, जीवन में अलौकिक-रस का संचार करने वाले, विश्व में शान्ति का प्रसार करने वाले सन्तों और उनकी मान्यताओं का यह संक्षिप्त-सा लेखा-जोखा है।

